दक्षिण में
हिंदी-प्रचार-आंदोलन
का
समीक्षात्मक इतिहास

लेखक
श्री पी. के. केशवन नायर

मूल्य १०)

दक्षिण भारत

के

हिंदी-प्रचार-आंदोलन

का

समीक्षात्मक इतिहास

लेखक

श्री पी. के. केशवन् नायर

प्रकाशक

श्री तेजनारायण टंडन

व्यवस्थापक

हिंदी-साहित्य-भंडार

अमीनाबाद, लखनऊ

प्रकाशक —हिंदी-साहित्य-भंडार, अमीनाबाद, लखनऊ

संस्करण —प्रथम, अगस्त 1963
मुद्रक —श्री बालकृष्णशास्त्री, ज्योतिष प्रकाश प्रेस, वाराणसी
मूल्य —दस रुपया

समर्पण

केरल के जन-हृदय में राष्ट्रभाषा हिन्दी का बीजारोपण कर, सहस्रों केरलीय तरुणों को हिन्दी की ही सेवा में आत्मोत्सर्ग करने की प्रबल प्रेरणा प्रदान करनेवाले, केरल के सर्वप्रथम, सर्वाराध्य हिन्दी प्रचारक, हिन्दी, संस्कृत एवं मलयालम् के धुरन्धर विद्वान, सहृदय शिरोमणि, दिवंगत श्री **एम० के० दामोदरन् उण्णि** की पवित्र स्मृति में विनम्र शिष्य का श्रद्धोपहार

—लेखक

दक्षिण के हिन्दी आन्दोलन के आदि प्रवर्तक श्री. पं० हरिहरशर्मा तथा श्री. पं० क० म० शिवरामशर्मा के आशीर्वाद-वचन

बहुत दिनों से मैं स्वयं चाहता था और मेरे सहयोगी कार्यकर्ता-बन्धु भी आग्रह करते थे कि मैं हिन्दी प्रचार का इतिहास लिखूँ, पर यह नहीं हो सका। मुझ को इसका बड़ा दुःख रहा। अब मैंने श्री केशवन् नायर के लिखे हिन्दी प्रचार के इतिहास का थोड़ा हिस्सा सुना। इससे बड़ी ही खुशी हुई। स्वतंत्रता पाने के लिए जितने आन्दोलन थे, उनमें हिन्दी प्रचार एक विशेष महत्वपूर्ण स्थान रखता है। इस आन्दोलन के कारण ही दक्षिण में राष्ट्रीयता की नयी जागृति हुई, लोगों का अंग्रेज़ी के प्रति अनावश्यक मोह छूटने लगा व मातृभाषा के प्रति सच्चा प्रेम भी उत्पन्न हुआ।

श्री केशवन् नायर इसे लिखने की विशेष योग्यता इससे रखते हैं कि वे इस महान् कार्य के तत्वों को पूरी तरह से समझ कर, उसकी भावना में ओतप्रोत होकर बड़ी सफलता के साथ अपना कार्य करते रहे हैं। बहुत पुराने प्रचारकों में श्री केशवन् नायर एक आदर्श प्रचारक भी रहे हैं। इसलिए एक तरह से एक प्रामाणिक इतिहास लिखने के भार से मैं मुक्त भी होता हूँ। मैं हृदय से इनको बधाई देता हूँ व चाहता हूँ यह पुस्तक शीघ्र तैयार होकर प्रकाशित हो।

ट्रिवेंड्रम
२३–९–६२ } —हरिहर शर्मा
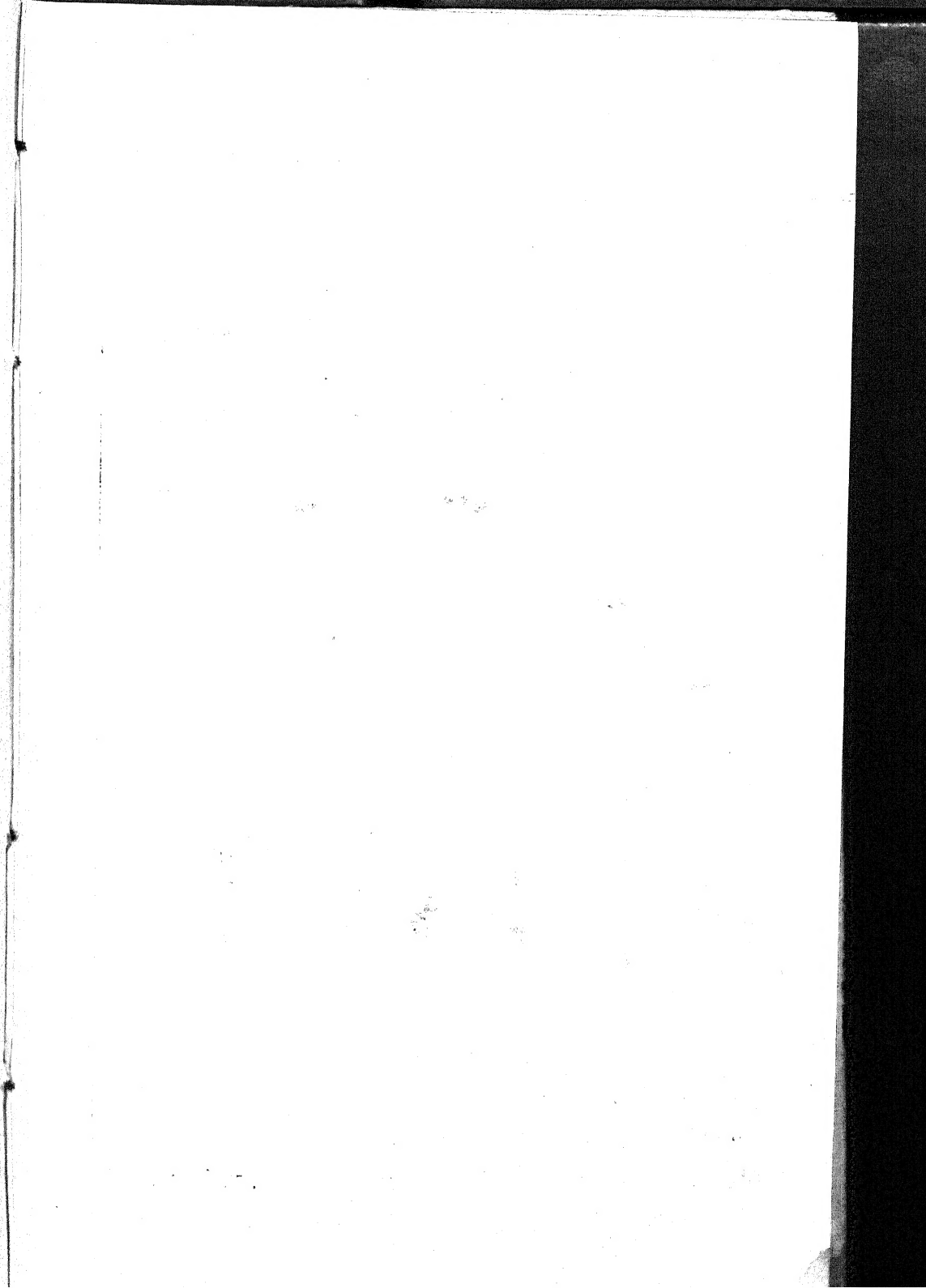
दक्षिण के

हिन्दी प्रचार आन्दोलन के आदि प्रवर्तक लेखक के साथ
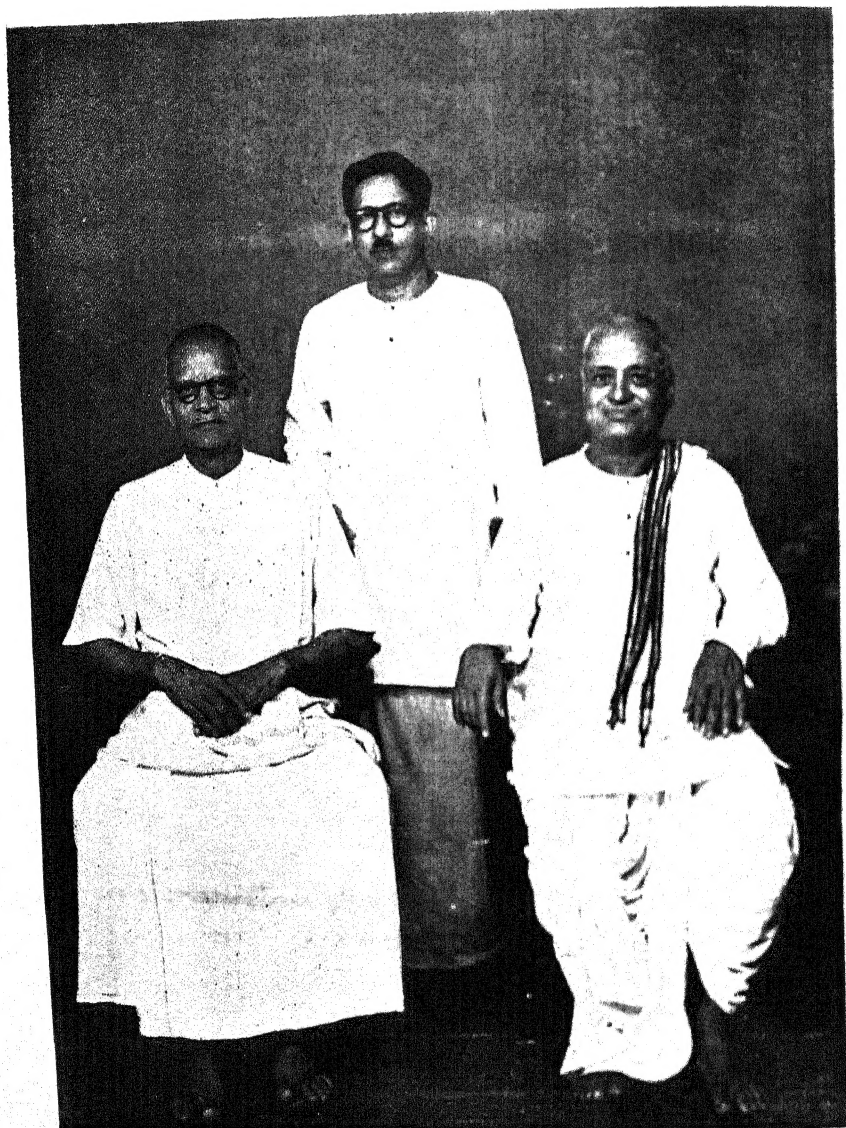
पं० हरिहर शर्मा पी. के. केशवन् नायर (लेखक) पं० क. म. शिवराम शर्मा

श्री पी. के. केशवन् नायर के "दक्षिण के हिन्दी आन्दोलन का समीक्षात्मक इतिहास" की पाण्डुलिपि देखकर मैं बहुत प्रसन्न हुआ। हमारे देश में स्वतंत्रता पाने के लिए जो महान् प्रयत्न हुए उनमें राष्ट्रभाषा हिन्दी के आन्दोलन का बहुत ही महत्त्वपूर्ण स्थान है। इस आन्दोलन से मेरा आरंभ से ही निकट संबन्ध रहा और श्री केशवन् नायर का मुझ से दो-चार वर्ष कम का। यद्यपि उनका कार्य-क्षेत्र केरल प्रदेश रहा तो भी दक्षिण के अन्य सभी प्रान्तों के कार्य का उन्हें पूरा परिचय है। दक्षिण भारत हिन्दी प्रचार सभा की शिक्षा-परिषद् के सदस्य के नाते उन्हें सारे हिन्दी आन्दोलन पर प्रभाव डालने का अवसर प्राप्त हुआ है। इतिहास वही प्रामाणिक है जो न केवल घटनाओं का वर्णन करे, बल्कि घटनाओं को प्रेरित करने वाली भावनाओं को भी व्यक्त करे। इस दृष्टि से इस इतिहास की रचना का अधिकार श्री केशवन् नायर से बढ़ कर कम लोगों को ही हो सकता है। हिन्दी भाषा के इतिहास में दक्षिण के हिन्दी प्रचार का आन्दोलन एक मुख्य अध्याय है। यह पुस्तक सारे हिन्दी-संसार की एक अमूल्य रचना बनेगी। इस पुस्तक की सारी बातें प्रामाणिक हैं। मैं जानता हूँ कि इन बातों के संकलन में श्री केशवन् नायर को कितना परिश्रम करना पड़ा। उनका प्रयत्न स्तुत्य है।

ट्रिवेण्ड्रम
२३-९-६२

—क. म. शिवराम शर्मा

श्री पी के केशवन नायर के "दक्षिण के हिन्दी आन्दोलन का समीक्षात्मक इतिहास" की पाण्डुलिपि देख कर मैं बहुत प्रसन्न हुआ। हमारे देश में स्वतंत्रता पाने के लिए जो महान प्रयत्न हुए उनमें राष्ट्रभाषा हिन्दी के आन्दोलन का बहुत ही महत्त्वपूर्ण स्थान है। इस आन्दोलन से मेरा आरम्भ से ही निकट सम्बन्ध रहा और श्री केशवन नायर का मुझसे दो चार वर्ष कम का। यद्यपि उनका कार्य-क्षेत्र केरल प्रदेश रहा तो भी दक्षिण के अन्य सभी प्रान्तों के कार्य का उन्हें पूरा परिचय है। दक्षिण भारत हिन्दी प्रचार सभा की शिक्षा परिषद के सदस्य के नाते उन्हें सारे हिन्दी आन्दोलन पर प्रभाव डालने का अवसर प्राप्त हुआ है। इतिहास वही प्रामाणिक है जो न केवल घटनाओं का वर्णन करे बल्कि घटनाओं को प्रेरित करने वाली भावनाओं को भी व्यक्त करे। इस दृष्टि से इस इतिहास की रचना का अधिकार श्री केशवन नायर से बढ़कर कम लोगों को ही हो सकता है। हिन्दी भाषा के इतिहास में दक्षिण के हिन्दी प्रचार का आन्दोलन एक मुख्य अध्याय है। यह पुस्तक सारे हिन्दी संसार की एक अमूल्य रचना बनेगी। इस पुस्तक की सारी बातें प्रामाणिक हैं। मैं जानता हूं कि इन बातों के संकलन में श्री केशवन नायर को कितना परिश्रम करना पड़ा। उनका प्रयत्न स्तुत्य है।

क. म. शिवराम शर्मा

त्रिवेन्द्रम
23.9.62

प्राक्कथन

दक्षिण में हिन्दी-प्रचार का इतिहास वर्षों तक देश-सेवा का इतिहास रहा है। दक्षिण के अनेकों युवक देश-सेवा की भावना से प्रेरित होकर हिन्दी-प्रचार के क्षेत्र में उतरे थे। वे गाँधी जी की सभी कार्य-योजनाओं में सक्रिय भाग लेते थे। देश-सेवा उनका आदर्श था और देश-सेवक होने का गौरव उनका पुरस्कार था। उन्हें कितनी ही तकलीफ़ों का सामना करना पड़ा था; तथापि वे जरा भी विचलित न होकर अपने कर्तव्य-पथ पर आगे बढ़ते ही गये। कुछ लोग तो अपनी अच्छी-अच्छी नौकरियाँ छोड़ कर ही इस सेवा-कार्य में लग गये थे। अनेकों भाइयों को इस सेवा के दौरान में जेल-यात्रा भी करनी पड़ी थी। केरल के ऐसे त्यागनिष्ठ सेवकों में थोड़े-से ही लोग अब बचे हैं। उनमें इस ग्रन्थ के लेखक श्री केशवन् नायर का भी नाम बड़े आदर के साथ लिया जा सकता है।

श्री नायर ने दक्षिण में हिन्दी-प्रचार आन्दोलन को जन्म लेते देखा है, उसकी प्रगति देखी है और उसके मीठे व कड़ुए फल चखे हैं।

इन दिनों कई एक हिन्दी-प्रचारक अपना उत्साह खोकर केवल पांडित्य का भार उठाये कोरे 'हिन्दी-अध्यापक' ही बन गये हैं। लेकिन श्री नायर जी में उत्साह और पांडित्य का संतुलित संगम आज भी हम देख सकते हैं। वे अब भी पूर्ववत् हिन्दी-प्रचार के कार्य में संलग्न रहते हैं।

श्री नायर के जैसे उत्साही, अनुभवी तथा विद्वान प्रचारक के द्वारा ही इस ग्रन्थ की रचना हुई, यह बड़े ही हर्ष की बात है। अपने प्रत्यक्ष अनुभवों के आधार पर ही आपने इसकी रचना की है। मेरे ख्याल में, और किसी के द्वारा इस प्रकार के एक ग्रन्थ की रचना नहीं हो सकती थी। मेरा पूर्ण विश्वास है कि अहिन्दी प्रान्तों के हिन्दी-प्रचार आन्दोलन के इतिहास से परिचित होने की इच्छा रखने वालों के लिए यह ग्रन्थ अत्यन्त उपयोगी सिद्ध होगा। इस विश्वास के साथ मैं इसे हिन्दी-प्रेमी जनता के समक्ष प्रस्तुत करता हूँ।

—ए० चन्द्रहासन

अपनी ओर से—

'दक्षिण भारत के हिन्दी प्रचार आन्दोलन का समीक्षात्मक इतिहास' हिन्दी प्रेमी पाठकों के सम्मुख प्रस्तुत करते हुए मैं अत्यन्त आनन्द का अनुभव कर रहा हूँ। यह मानी हुई बात है कि स्वाधीनता-संग्राम से सम्बन्धित राष्ट्र-पुनर्निर्माण की आयोजनाओं में दक्षिण का हिन्दी प्रचार आन्दोलन एक महत्वपूर्ण स्थान रखता है। स्वातन्त्र्य-प्राप्ति के पश्चात् विधान के अनुच्छेद ३५१ के अनुसार राजभाषा हिन्दी के देशव्यापक प्रचार-प्रसार की वृद्धि करना सरकार का कर्तव्य हो गया है। इसीलिए पञ्चवर्षीय योजनाओं में हिन्दी के प्रचार एवं विकास के लिए भी समुचित स्थान दिया गया है। लेकिन सन् १९१८ से लेकर स्वातन्त्र्य-प्राप्ति तक राष्ट्रीय चेतना की पृष्ठभूमि में, खासकर दक्षिण के अहिन्दी प्रान्तों में, हिन्दी-प्रचार का जो जबरदस्त आन्दोलन हुआ, उसकी गति-विधि तथा विकास-क्रम का पूरा इतिहास किसी ने आज तक लिखने का कष्ट नहीं उठाया है। यह तो स्वाभाविक बात है कि दिन बीतते-बीतते बीती हुई बातें विस्मृति के गर्भ में विलीन हो जाया करती हैं।

हिन्दी प्रचार सभा, मद्रास के कार्यकर्ताओं की यह उत्कट अभिलाषा रही कि सभा की रजतजयन्ती के अवसर पर दक्षिण के हिन्दी आन्दोलन का एक इतिहास-ग्रन्थ प्रकाशित किया जाय। परन्तु उनकी यह इच्छा अभी तक सफल नहीं हो सकी।

अब प्रश्न उठ सकता है कि इस ग्रन्थ की रचना में मेरा प्रेरणा स्रोत कौन-सा रहा है? इसके उत्तर में इतना ही मेरा निवेदन है कि मैं भी उन कार्यकर्ताओं में से हूँ जिसे पिछले ४० वर्षों से दक्षिण के हिन्दी-प्रचार आन्दोलन के क्रमिक विकास सम्बन्धी विविध कार्य-कलापों में लगातार अपनी तुच्छ सेवाएँ अर्पित करते रहने का सुयोग प्राप्त हुआ है। उन चालीस वर्षों का प्रत्यक्ष अनुभव ही इस गुरुतर कार्य में मेरा संबल रहा है।

सन् १९५७ में आचार्य नन्ददुलारे बाजपेयी जी के निकट सम्पर्क में आने का मुझे सौभाग्य प्राप्त हुआ। उस समय मैं केरल सरकार के शिक्षा-विभाग के अधीन हिन्दी विशेष अधिकारी (हिन्दी स्पेशल अफ़सर) के पद पर नियुक्त था। केन्द्रीय सरकार द्वारा केरल राज्य के कालेजों में हिन्दी-अभिभाषणार्थ नियुक्त होकर श्री बाजपेयीजी यहाँ आए हुए थे। उनके साथ भ्रमण करने के लिए केरल सरकार ने मुझी को नियुक्त किया था। एक दिन प्रसंगवश, मैंने दक्षिण के हिन्दी प्रचार

आन्दोलन सम्बन्धी कुछ पुरानी बातें उनको सुनायीं। वे उनसे बहुत ही प्रभावित हुए और मुझ से आग्रह किया कि मैं दक्षिण के हिन्दी प्रचार आन्दोलन तथा तत्सम्बन्धी भाषामूलक समस्याओं पर एक इतिहास ग्रन्थ लिखूँ। उन्होंने मुझे यह भी आशा दिलायी कि उसे शोध-ग्रन्थ के रूप में किसी विश्वविद्यालय में प्रस्तुत किया जा सकता है। उनके आग्रह और प्रोत्साहन का यह फल हुआ कि मैंने अपनी वर्षों की कल्पना को कार्यरूप में परिणत करने का दृढ़ संकल्प कर लिया। बस, यही इस प्रयास का मेरा प्रेरणा-स्रोत है।

मैं जानता हूँ कि इतिहास के तथ्यों व तत्त्वों के संकलन-निरूपण में सम्पूर्णता का दावा कोई भी नहीं कर सकता। तब मैं कैसे इसे सम्पूर्ण कहने का साहस कर सकता हूँ? परन्तु मैं तो इतना तो दावा अवश्य कर सकता हूँ कि हिन्दी की सेवा में पिछले चालीस वर्षों से निरन्तर संलग्न रहने वाले एक हिन्दी सेवक के रूप में जो प्रत्यक्ष अनुभव प्राप्त हुए हैं, उनके आधार पर ही इस ग्रन्थ की रचना का मैंने प्रयास किया है।

सन् १९३० के बाद दक्षिण के हिन्दी प्रचार का क्षेत्र बहुत ही व्यापक रहा है। साथ ही साथ भाषामूलक समस्याएँ भी बढ़ती रही हैं। अतः प्रचार, संगठन, साहित्य-सृजन, शिक्षा-माध्यम, शिक्षण-पद्धति, परीक्षा-योजना आदि विभिन्न विषयों पर प्रकाश डाले बिना हिन्दी-आन्दोलन का क्रमिक विकास दिखाना कठिन था। इस बात से कोई इनकार नहीं कर सकता कि राष्ट्रीय-शिक्षा की आवश्यकता, राष्ट्र-भाषा की महत्ता, अंग्रेजी-शिक्षण प्रणाली की अनुपयोगिता आदि विषयों पर महात्मा गाँधी जी ने जितना गहरा चिन्तन और मनन किया उतना शायद ही अन्य किसी नेता ने किया हो। आज गाँधी के अनुयायी कहलाने वाले लोग, उनके सिद्धान्तों के अनु-सन्धान-अनुशीलन में दिल-दिमाग लड़ाते रहते हैं। लेकिन वे इस बात को भूले हुए दीखते हैं कि भारत की राष्ट्रभाषाविषयक समस्याओं को हल करने में गाँधी जी से बढ़कर कोई नेता अब तक सफल नहीं हो सके हैं। अतः राजभाषा सम्बन्धी उनके सिद्धान्तों पर अमल करना हमारा परम धर्म है। वास्तव में उनके बताये रास्ते पर चलने का दम भरते हुए उनके सिद्धान्तों पर अमल न करना उनका अपमान करना है। उनके अनुयायी तो उन्हें युग-स्रष्टा मानते हैं। तब वे भविष्य द्रष्टा भी क्यों न माने जायँ और उनकी विचार-धारा को क्यों महत्व न दिया जाय? दुख की बात है कि गाँधी जी के सच्चे अनुयायी कहलाने वाले कई-एक कॉंग्रेसी नेता राजभाषा की अवज्ञा करते हुए गाँधी जी के राष्ट्रभाषा सम्बन्धी महत्त्वपूर्ण विचारों की धज्जियाँ उड़ाते रहते हैं। उनका कथन है कि वर्तमान परिस्थिति को देखते हुए गाँधी जी का राष्ट्रभाषा सिद्धान्त अव्यावहारिक है। यही कारण है कि

राजभाषा की समस्या को लेकर देश में फिर से तूफान उठाने की कोशिश की जा रही है। आज इसका नग्न दृश्य हम देखते हैं।

मैंने अपने इस ग्रन्थ में भाषामूलक समस्याओं पर गाँधी जी के कई भाषण के उद्धरण प्रस्तुत किये हैं। मेरा विश्वास है कि दक्षिण के हिन्दी अध्यापक और अध्येता उनकी विचार-धारा से अवश्य लाभान्वित हो सकेंगे।

इस ग्रन्थ-रचना के लिए मैंने दक्षिण-भारत हिन्दी प्रचार सभा द्वारा प्रकाशित सभी पत्र-पत्रिकाओं की पुरानी फाइलों की छान-बीन करके ही अधिकांश सामग्री जुटाई है, अन्यत्र इतनी सामग्री कहाँ मिल सकती है! 'श्री सत्यनारायण अभिनन्दन ग्रन्थ' में दक्षिण के चारों प्रान्तों के हिन्दी प्रचार-कार्य की झाँकी दिखाते हुए कुछ लेख प्रकाशित किये गये हैं। उन लेखों से भी मैंने आवश्यक सहायता ली है। तदर्थ मैं उस ग्रंथ के विज्ञ लेखकों का बड़ा आभारी हूँ।

मेरे आदरणीय मित्र श्री एन. वेंकटेश्वरन्, (परीक्षा-मन्त्री दक्षिण भारत हिन्दी प्रचार सभा, मद्रास) तथा श्री सी. जी. गोपालकृष्णन् (संगठक, दक्षिण भारत हिन्दी प्रचार सभा केरल शाखा) ने इस ग्रन्थ निर्माण की सामग्री जुटाने में मुझे काफी सहायता पहुँचाई है। श्री डॉ. भास्करन् नायर, (अध्यक्ष, हिन्दी विभाग, केरल विश्वविद्यालय) की प्रेरणा और प्रोत्साहन इस कार्य को शीघ्र पूरा करने में अत्यन्त सहायक रहा है; अन्यथा इतनी जल्दी इसका पूरा होना असंभव होता। हिन्दी प्रचार सभा, मद्रास के संस्थापक तथा आदि प्रवर्तक पं० हरिहर शर्माजी तथा पं० शिवराम शर्माजी इस ग्रन्थ की पांडुलिपि का कुछ अंश पढ़ कर बहुत ही प्रसन्न हुए और उन्होंने इस ग्रन्थ-रचना पर कुछ आशीर्वचन लिपिबद्ध कर के दिये हैं जो इसमें अन्यत्र प्रकाशित हैं। मेरे इस प्रयत्न में हार्दिक सहानुभूति दिखा कर मेरे उत्साह को बढ़ानेवाले उन सभी महान् व्यक्तियों का मैं चिर ऋणी हूँ।

दक्षिण के हिन्दी प्रचार आन्दोलन का कार्य-क्षेत्र मुख्यतः तमिलनाडु, आन्ध्र, कर्नाटक और केरल रहने से उन चारों प्रान्तों का अलग-अलग बृहत् इतिहास लिखा जा सकता है। पिछले ४५ वर्षों की लंबी अवधि में दक्षिण के कोने-कोने में हिन्दी प्रचार का प्रबल आन्दोलन चला। उसका क्रमबद्ध इतिहास लिखना अत्यन्त कठिन कार्य है। फिर भी मैंने पाठकों को थोड़े में उसकी गति-विधि का परिचय कराने की भरसक चेष्टा की है।

केरल के सुप्रसिद्ध हिन्दी-सेवी तथा केरल विश्वविद्यालय के शोध-विभाग (हिन्दी) के अध्यक्ष श्री ए० चन्द्रहासन् ने इस ग्रन्थ का प्राक्कथन लिखने की कृपा की है। तदर्थ मैं उनका बड़ा कृतज्ञ हूँ।

दक्षिण के हिन्दी प्रचार आन्दोलन के विविध कार्य-कलापों में वर्षों तक सक्रिय भाग लेते रहने वाले, दक्षिण के हिन्दी प्रचारकों के पथ-प्रदर्शक तथा मेरे जैसे हज़ारों प्रचारकों के आराध्य गुरुदेव श्री पं० हृषीकेश शर्मा जी ने इस ग्रन्थ की भूमिका लिखकर मुझ अकिंचन को अनुगृहीत किया है; उसके लिए मैं उनका चिर कृतज्ञ हूँ।

मेरे मित्रवर श्री तेजनारायण टंडन जी, व्यवस्थापक, हिन्दी साहित्य-भंडार, लखनऊ ने इस ग्रन्थ के प्रकाशन का दायित्व-भार उठा कर इसे शीघ्रातिशीघ्र जनता के समक्ष लाने की कृपा की है। उसके लिए मैं उनका बड़ा आभार मानता हूँ।

इसकी छपाई सुप्रसिद्ध मुद्रक 'ज्योतिषप्रकाश प्रेस' वाराणसी में हुई है। बहुत ही थोड़े समय में छपाई का काम पूरा करने में प्रेस के व्यवस्थापक श्री बालकृष्ण शास्त्री ने कोई बात उठा नहीं रखी है। अतः उनका भी मैं बड़ा कृतज्ञ हूँ।

खेद है कि जल्दी में शुद्ध पांडुलिपि तैयार करने एवं छपाई हो जाने के कारण इस ग्रन्थ में यत्र-तत्र कुछ भूलें रह गयी हैं। अतएव अन्त में शुद्धि-पत्र देना पड़ा है। सहृदय पाठक उन भूलों के लिए मुझे क्षमा करेंगे, ऐसी आशा है। अगला संस्करण त्रुटि रहित निकाला जा सकेगा, यही विश्वास है।

इस इतिहास-ग्रन्थ की अपूर्णता का अनुभव करते हुए भी, हिन्दी-प्रेमी पाठकों को दक्षिण के राष्ट्रभाषा आन्दोलन की एक झाँकी-भर दिखाने में यदि यह उपयोगी सिद्ध हुआ तो मैं अपने को कृतार्थ समझूंगा।

—लेखक

विषय प्रवेश—

यह निर्विवाद बात है कि किसी भी देश के राजनैतिक, सामाजिक तथा धार्मिक उत्कर्ष-अपकर्ष में उस देश की भाषा तथा साहित्य का बड़ा हाथ रहता है। भाषा और साहित्य का विकास उस देश की राष्ट्रीयता के विकास का परिचायक है। देश हमारा शरीर है तो साहित्य हमारी आत्मा है और भाषा हमारा प्राण है। मनुष्य के साथ भाषा की भी उत्पत्ति हुई और उसी के साथ उसका विकास भी हुआ। विभिन्न परिस्थितियों में, विविध दशाओं में मानव-मन में उठनेवाली भावनाओं और विचारधाराओं का शब्दबद्ध रूप ही साहित्य कहलाता है। वह भाषा अथवा शब्द-समूह पर अवलंबित रहता है। वस्तुतः सच्चा साहित्य ही समाज की आत्मा की चेतना है। यही कारण है कि विजेता लोग विजित देश की भाषा एवं साहित्य की प्रगति को रोकने की चेष्टा करते हैं। वे अपनी भाषा और साहित्य का आधिपत्य स्थापित करके वहाँ के सांस्कृतिक, राजनैतिक तथा धार्मिक जीवन पर अपनी अमिट छाप डालते हैं। धीरे-धीरे वह देश विजेताओं की दासता की श्रृंखला में आबद्ध हो जाता है। यही देश का पतन कहलाता है।

भारतवर्ष का इतिहास उपर्युक्त कथन का साक्षी है। यहाँ जब हिन्दू साम्राज्य का पतन हुआ और मुसलमानों का साम्राज्य स्थापित हुआ तो फारसी का प्रभाव रहा। फिर अंग्रेज़ों की हुकूमत कायम हुई तो हिन्दू, मुसलमान दोनों उनके गुलाम बने और अंग्रेजी का यहाँ बोलबाला हुआ। सब पर अंग्रेज़ी रंग चढ़ा। वेश-भूषा, आचार-विचार, संस्कृति, सभ्यता, कला-कौशल, उद्योग-धंधे सब पर अंग्रेज़ी का प्रभाव पड़ा। शिक्षा-दीक्षा भी अंग्रेज़ी ढाँचे में ढली। वर्षों तक हमारे देश की यह स्थिति रही। उस स्थिति को हमने पराधीनता कहा। उससे मुक्त होने के लिए हमने 'स्वराज्य-संग्राम' छेड़ा। महात्मा गाँधी ही उस स्वातंत्र्य-युद्ध के अगुआ बने। अहिंसा के मार्ग पर चलते हुए, आत्मोत्सर्ग द्वारा हमने पराधीनता की बेड़ियाँ तोड़ीं। हमने गाँधीजी को राष्ट्रपिता माना।

गाँधीजी ने हमको बताया कि पराधीनता से मुक्त होने का अर्थ केवल अधिकार का हस्तान्तरित होना ही नहीं है, बल्कि भाषा, साहित्य, संस्कृति, धर्म, शिक्षा-दीक्षा आदि को भी अंग्रेज़ी के आधिपत्य से मुक्त करना है अर्थात् हमें अपना भौतिक स्तर उठाना है और जातिगत एवं धर्मगत भिन्नता मिटाना है; देशीय भाषा, साहित्य तथा संस्कृति का पुनरुद्धार करना है तथा देशीय शिक्षा-दीक्षा द्वारा देश की जनता में नयी चेतना भरनी है। आज भारत उनके बताए मार्ग पर उनके सिद्धांतों के अनुसार राष्ट्र के नवनिर्माण के कार्य में जी-जान से जुटा हुआ है।

आज भारत स्वतंत्र है। हमने भारत में गणतंत्रात्मक शासन कायम करना चाहा और तदनुसार विधान भी बनाया। देश में सबसे अधिक व्यापक तथा सरल भाषा हिन्दी को हमने एक स्वर में राजभाषा घोषित भी किया। देश के पुनर्गठन की बात तय हुई। तदनुसार भाषावार प्रांतों की पुनर्रचना भी की गयी। देश के विकास के लिए पंचवर्षीय योजनाएँ बनीं जिनमें राजभाषा हिन्दी के प्रचार, प्रसार एवं वृद्धि का कार्य देश की भावनात्मक एकता के लिए अत्यंत आवश्यक समझा गया। अतः सन् १९६५ के बाद अंग्रेज़ी के स्थान पर हिन्दी का व्यवहार सार्वजनिक रूप में करने का भी हमने निश्चय किया।

लेकिन दुर्भाग्य की बात है, हमारे देश की गति-विधि में कुछ आकस्मिक परिवर्तन हुए। भाषावार प्रान्त के पुनर्गठन के बाद प्रादेशिक भाषाओं के समर्थन में हिन्दी के विरुद्ध कुछ दक्षिणी लोग आवाज़ उठाने लगे। उनमें संकीर्णता इतनी बढ़ गयी कि वे हिन्दी तथा हिन्दीवालों को शंका की दृष्टि से देखने लगे। वर्षों का पुराना हिन्दी विद्वेष फिर से जाग्रत हो उठा। विवश होकर केन्द्र सरकार को समझौते का रास्ता ग्रहण करना पड़ा। सन् १९६५ के बाद भी अनिश्चित काल के लिए अंग्रेज़ी को हिन्दी की सहयोगिनी भाषा के रूप में बनाये रखने के लिये आवश्यक विधेयक आगामी विधान-सभा में पारित करने की बात सोची गयी। राष्ट्रपिता ने हमें इन शब्दों में सावधान किया था "अगर सरकारें और उनके दफ़्तर सावधानी नहीं लेंगे तो मुमकिन है कि अंग्रेज़ी ज़बान हिन्दुस्तानी की जगह को हड़प ले। इससे हिन्दुस्तान के उन करोड़ों लोगों को बेहद नुकसान होगा जो कभी भी अंग्रेजी समझ नहीं सकेंगे। मेरे ख्याल में, प्रान्तीय सरकारों के लिए यह बहुत आसान बात होनी चाहिए कि वे अपने यहाँ ऐसे कर्मचारी रखें जो सारा काम प्रांतीय भाषाओं और अन्तर्प्रान्तीय भाषा में कर सकें।" परंतु दुख की बात है कि भाषा की पराधीनता से हम अभी तक मुक्त नहीं हो सके! भावात्मक एकता की आधार-शिला ही हम पक्की न कर पाये।

दक्षिण भारत ने सन् १९१८ में ही हिन्दी का राष्ट्रभाषा के रूप में स्वागत किया था। राष्ट्रपिता के नेतृत्व और आशीर्वाद से हिन्दी का यहाँ जो प्रचार एवं प्रसार हुआ वह गौरव की वस्तु है। पिछले वर्षों में दक्षिण में हिन्दी प्रचार आन्दोलन का सफल नेतृत्व करने में दक्षिण तथा उत्तर के कितने ही उच्च श्रेणी के नेताओं, त्यागनिष्ठ हिन्दी प्रचारकों तथा सच्चे देश हितैषियों का हार्दिक योगदान रहा है।

इन दिनों भावात्मक एकता की आवाज़ क्यों बुलन्द है? इसलिये कि प्रान्तीयता, सांप्रदायिकता तथा दलबन्दी की विषैली वायु में हमारा दम घुटने लगा है। राष्ट्रभाषा के प्रचार के मूल में गाँधी जी भारत की भावात्मक एकता ही देखते थे।

कश्मीर से लेकर कन्याकुमारी तक की जनता में राष्ट्रभाषा हिन्दी के द्वारा ही भावात्मक एकता की स्थापना हो सकती है, यह कल्पना उस समय गाँधी जी की तरह अन्य नेताओं तथा हिन्दी के प्रचारकों की भी रही है। लेकिन अब स्वभावतः ऐसे प्रश्न उठते हैं कि अंग्रेज़ी को हिन्दी की सहयोगिनी बनाये रखने तथा उसी में अन्तरप्रान्तीय प्रशासनिक कार्य चलाते रहने से राजभाषा हिन्दी कैसे विकसित होगी? कब तक वह उसके लिए योग्य बन सकेगी? और यदि अंग्रेज़ी रहे तो हिन्दी को राजभाषा के रूप में विकसित करने की आवश्यकता ही क्या है? अंग्रेज़ी के पक्षपाती इन प्रश्नों का एक ही उत्तर यों देते हैं कि हिन्दी जब लायक बनेगी तो अंग्रेज़ी को हटाने की बात सोची जायगी। इस उत्तर से यह शंका उठती है कि क्या अंग्रेज़ी के प्रति परंपरागत अन्धभक्ति जो है उसके आगे हिन्दी को लोग विकसित होने देंगे? अंग्रेज़ी का स्तर ऊँचा उठाने एवं अंग्रेज़ी माध्यम से फिर से शिक्षा-दीक्षा का क्रम जारी करने का प्रयत्न आज सब कहीं होने लगा है। विश्व-विद्यालयों में अंग्रेज़ी ही को पढ़ाई का माध्यम बनाये रखने की चेष्टा हो रही है। यदि वहाँ प्रादेशिक भाषाओं का माध्यम स्वीकृत हो जाय तब भी राजभाषा हिन्दी का स्थान कौन-सा रहेगा? हाल ही में शिक्षा मंत्री ने विश्वविद्यालयों के उपकुलपतियों के सम्मेलन में व्याख्यान देते हुए सूचित किया कि प्रादेशिक भाषाओं के माध्यम से जब विश्वविद्यालयों में पढ़ाई शुरू की जायगी तब हिन्दी और अंग्रेज़ी दोनों अनिवार्य भाषा के रूप में पढ़ाई जाएँगी। इससे हिन्दी का स्तर कहाँ तक ऊपर उठेगा और हिन्दी कब तक राष्ट्रभाषा के स्थान पर व्यवहृत होने लायक बनेगी, इत्यादि प्रश्न विचारणीय हैं। परन्तु इतना तो निश्चित है कि अंग्रेज़ी को राजभाषा हिन्दी की सहयोगिनी बनाये रखने की नीति हिन्दी के विकास में बाधक ही सिद्ध होगी। अंग्रेज़ी का पद चिरस्थायी बनाने की नीति की आलोचना करते हुए देश के सुप्रसिद्ध नेता, हिन्दी के धुरंधर विद्वान डॉ० सम्पूर्णानंद जी ने सितंबर १९६२ के 'धर्मयुग' में एक लेख लिखा था जिसका नीचे उद्धृत अंश विशेष ध्यान देने योग्य है।

"भारत जैसे बड़े देश में जहाँ कई प्रादेशिक भाषाएँ प्रचलित हों, राष्ट्रभाषा का प्रश्न स्वभावतः कठिन होगा। प्रादेशिक भाषाएँ सामान्य बोलियाँ नहीं हैं। इनमें कईयों का इतिहास शताब्दियों पीछे तक जाता है। उनके वाङ्मय-भण्डार में ऐसी रचनायें हैं जिनका विश्व-वाङ्मय-भंडार में ऊँचा स्थान है। देश के स्वतंत्र होने पर यह समस्या उठ खड़ी होती ही थी कि किस भाषा को राष्ट्रभाषा का स्थान दिया जाय।

बहुत से लोगों का ध्यान अंग्रेज़ी की ओर गया। परिस्थितियों को देखते हुए यह कोई आश्चर्यजनक बात नहीं है। जो लोग राष्ट्रीय आन्दोलन में अग्रगण्य थे, वह सब अंग्रेज़ी के ज्ञाता थे, आपस का व्यवहार अंग्रेज़ी में करते थे। सार्वजनिक प्रश्नों पर

विचार-विनिमय अंग्रेज़ी द्वारा होता था। यही ऐसी भाषा थी जो सर्व प्रांतीय थी। स्वाधीनता-प्राप्ति के बाद भी उससे काम लिया जाय, यह सहज भाव था। उससे सुविधा प्रतीत होती थी। परंतु राष्ट्रीय सम्मान का तक़ाज़ा कुछ और ही था। देश की आत्मा की पुकार यह थी कि कोई भारतीय भाषा अपनाई जाय। महात्मा जी की वाणी उस पुकार का प्रतीक थी। दृष्टि हिन्दी पर गयी, इसलिए नहीं कि वह भारतीय भाषाओं में सबसे श्रेष्ठ थी-वरन् इसलिए कि उसको बोलने और समझने वालों की संख्या सबसे अधिक थी।

मुझ को ऐसा लगता है कि हिन्दी को चुनकर हमने भूल की। संस्कृत को चुनना था। दक्षिण के जो लोग आज हिन्दी का विरोध करते हैं वह संस्कृत का भी विरोध करते, परंतु दक्षिण में संस्कृत जाननेवाले विद्यमान हैं। बंगाली आदि भाषाओं के प्रेमियों को विरोध का अवकाश कम मिलता। हिन्दी के प्रति जो सपत्नी भाव है वह संस्कृत से न होता। दूसरी भूल यह हुई कि हिन्दी को राष्ट्रभाषा के रूप में अपनाने के लिए लंबी अवधि दी। संविधान के स्वीकार होते ही पांच साल के भीतर यह काम हो जाना चाहिए था। वाङ्मय आदि के क्षेत्र में थोड़ी देर लगती तो कोई हर्ज नहीं होता, राजभाषा के रूप में व्यवहृत होने में कोई कठिनाई न थी। लंबी अवधि दी गयी और यह स्पष्ट हो गया कि दिल्ली के मस्तिष्क में त्वरा का भाव नहीं है।

अब यह तय होने जा रहा है कि अंग्रेजी का पद चिरस्थायी कर दिया जाय, वह सदा के लिए हिन्दी के साथ सहकारी भाषा के रूप में बनी रहे। मैं यही कहता हूँ कि यह देश के लिए लज्जा की बात है। हिन्दी से चिढ़ है तो कोई दूसरी भारतीय भाषा को उस का स्थान दे दिया जाय, परंतु अंग्रेज़ी को सर पर ढोना तो डूब मरने के बराबर है। हम को बाहरवाले क्या कहते होंगे? अंग्रेजी को इस प्रकार प्रतिष्ठित करने का अर्थ यह होगा कि हिन्दी कभी भी राष्ट्रभाषा न हो सकेगी, उसकी उन्नति रुक जायगी। अब भी प्रगति धीमी है; फिर भी यह आशा बंध रही है कि स्यात् अनतिदूर भविष्य में वह एक मात्र राष्ट्रभाषा बन ही जाय।"

'दक्षिण के हिन्दी प्रचार आन्दोलन का समीक्षात्मक इतिहास' की प्रस्तावना

प्रस्तावना के कुछ शब्द

"दक्षिण के हिन्दी प्रचार आन्दोलन का समीक्षात्मक इतिहास" नामक ग्रन्थ के छपे हुए सब फर्मे मेरे हाथ में हैं। कुल मिलाकर ४२५ पृष्ठ हैं। 'अथ से इति तक' मैं इस ग्रन्थ को मनोयोग पूर्वक पढ़ गया हूँ। इसके लेखक श्री पी. के. केशवन् नायर केरल के सुपुत्र हैं। मलयालम् उनकी मातृभाषा है। हिन्दी में उन्होंने एम. ए. किया है और हिन्दी पर उनका अच्छा अधिकार है। उनका लेखनकार्य और भाषण भी बहुत उत्तम। नायरजी की नागरी लिखावट बहुत ही साफ-सुथरी और सुडौल। सम्प्रति वह त्रावणकोर युनिवर्सिटी (तिरुविताकूंर विश्वविद्यालय) के महाविद्यालय में (ट्रिवेंड्रम-तिरुवनन्तपुरम् में) हिन्दी-अध्यापक हैं। जब सन् १९५७ में, केरल में, एम. एस. नंबूद्रीपाद का मंत्रीमंडल बना तब केशवन जी को वहाँ की सरकार ने शासकीय स्तर पर 'हिन्दी विशेषाधिकारी" के पद पर नियुक्त किया था। आपने उस पद पर रहकर बड़ी योग्यता, अथक परिश्रम, अदम्य उत्साह और धैर्य के साथ केरल राज्य में हिन्दी को अग्रसर किया।

केरल की सार्वजनिक हिन्दी संस्थाओं और निःस्वार्थ सेवाभावी त्यागवृत्ति तरुण प्रचारकों ने राष्ट्रपिता बापू की प्रेरणा और उनके आशीर्वादों को प्राप्त कर हिन्दी के भावात्मक राष्ट्रीय ऐक्य-संवर्धक सन्देश को केरल के शत-शत ग्रामों और बड़े-बड़े नगरों तक पहुँचाया और हिन्दी के लिए अच्छी तरह उर्वरा भूमि तैयार की। केरल में कहीं भी हिन्दी का विरोध आप न पाइयेगा। केरल के नेता, केरल के चोटी के साहित्यकार और कलाकार, सभी समाजसेवक, शिक्षित नागरिक, नर-नारी हिन्दी के समर्थक मिलेंगे आपको। वहाँ के विद्यालयों, महाविद्यालयों और विश्वविद्यालयों में हिन्दी को स्नातकोत्तर कक्षाओं पर्यन्त अभ्यासक्रम में स्थान मिला हुआ है। वहाँ हिन्दी का उच्चस्तरीय अध्ययन होता है।

हमें दक्षिण के—आन्ध्र, तमिल, केरल कर्नाटक के—इस हिन्दी-प्रेम के रहस्य को गहरे पानी पैठकर खोजना होगा। हमें उनकी हिन्दी-सेवा की सराहना अभिनन्दन-वन्दन पूर्वक करनी होगी। दक्षिण भारत के हिन्दी-प्रचारकों द्वारा की गई राष्ट्रभाषा हिन्दी की सेवा के मर्म को राष्ट्रपिता बापू ने और राष्ट्रपुरुष राजर्षि टंडन जी ने, हिन्दी के सर्वतंत्र स्वतंत्र समर्थ समीक्षक आचार्य नन्ददुलारे वाजपेयी,

डॉ० विनयमोहन शर्मा, भारतीय आत्मा माखनलालजी, आचार्य काका साहब कालेलकर, वियोगीहरि, डॉ० सेठ गोविन्ददास, राष्ट्रीय कवि दिनकर, भदन्त आनन्द कौशल्यायन, महापंडित राहुल सांस्कृत्यायन, पं० बनारसीदास चतुर्वेदी आदि आदि महामनीषियों ने समझा है और गहराई के साथ कुछ उस पर सोचा है। हम-हिन्दीवालों को दक्षिण के आन्ध्र, तमिल, केरल, कर्नाटक, महाराष्ट्र, बंबई, विदर्भ, गुजरात, आसाम, मणिपुर आदि हिन्दीतर क्षेत्रों में सम्पन्न हुए हिन्दी-प्रचार कार्य के प्रति नाक-भौं नहीं सिकोड़नी होगी, उँह्, अंगूर खट्टे हैं नहीं कहना होगा। निश्चय मानिये, आगामी १०-१२ वर्षों के अन्दर दक्षिण के आन्ध्र, तमिल, केरल और कर्नाटक तथा अन्य हिन्दीतर प्रांतों के अ–हिन्दीभाषी हिन्दी-सेवी तरुण हजारों की संख्या में हिन्दी-भाषा और उसके साहित्य के मर्मज्ञ बनकर बहुत आगे बढ़ जायेंगे। पूज्य राजाजी (श्री राजगोपालाचारीजी) और 'द्रविड मुन्नेत्र कडकगम' के आन्दोलनकारी नेताओं की बात छोड़ दीजिये और "होम मिनिस्टर" श्री लालबहादुर शास्त्रीजी की "किन्तु-परन्तु" को भी नजर-अन्दाज रखिये और साथ ही हम उनकी भी बात छोड़ दें जो नौकरी की तलाश में, केन्द्रीय सरकार के बृहत् विराट सचिवालय में पब्लिक सर्विस कमीशन की शरण में अंग्रेजी के बलबूते पर बात की बात में नौकरियों में प्रविष्ट हो जाना चाहते हैं और हिन्दी को वर्षों पीछे धकेल देना चाहते हैं।

मैं उन अत्यन्त भाग्यशाली हिन्दी प्रचारकों में से एक हूं जिसने सन १९१८ से लेकर १९३४ तक दक्षिण भारत हिन्दी प्रचार सभा मद्रास की और १९३६ के जुलाई से लेकर सन् १९६३ के अगस्त तक राष्ट्रभाषा प्रचार समिति वर्धा की, दोनों संस्थाओं के जन्मकाल से अपनी समग्र श्रद्धा और विश्वास के साथ बहुविध सेवा की है और मैं आज भी कर रहा हूँ। इन गत लगातार ४५ वर्षों में मैंने जिन संस्कार-सम्पन्न, सुशिक्षित तथा शील-चारित्र्य-समृद्धसेवाभावी लगभग ३०० अ-हिन्दी भाषी तरुणों को अत्यन्त स्नेह-सहानुभूति सहित हिन्दी-भाषा और साहित्य की अध्ययन-दीक्षा दी, उनमें श्रीकेशवनायरजी भी हैं। दक्षिण के मेरे सभी प्रिय शिष्य आज हिन्दी की उस सुन्दर कहावत को अक्षरशः प्रमाणित कर रहे हैं कि गुरू तो गुड ही रहा और शिष्य शीरीं शक्कर बन गये। ऐसे ही लोगों के अथक-परिश्रम, स्वार्थ-त्याग, लगन और अडिग उत्साह से हिन्दी राष्ट्रभाषा के पदपर प्रतिष्ठित हुई है।

राष्ट्रभाषा हिन्दी की सेवा के इस काल में जब कि मेरी आयु ७२ वें मील पत्थर को पार कर चुकी है, मेरे घर में भारत की पुण्यसलिला गंगा, यमुना, नर्मदा, कृष्णा, गोदावरी, तुंगभद्रा और कावेरी की शीतल-पावन धाराओं का संस्कृति-संगम हुआ। मेरे घर में हिन्दी के साथ तेलगु, तमिल, मराठी, गुजराती, बंगला,

संस्कृत आदि भाषाएँ पधारीं और उन्होंने हमारे अन्तरतम को विकसित, जाग्रत और निर्मल तथा नन्दित किया।

लेखक श्री केशवजी और प्रकाशक श्रीतेजनारायण टंडनजी हिन्दी साहित्य भंडार, लखनऊ, अमीनाबाद का स्नेह-सौजन्य पूर्ण अनुरोध है कि मैं इस ग्रन्थ की छोटी-सी प्रस्तावना लिखूँ। मेरी जानकारी की जहाँ तक पहुँच है मैं निरसंकोच—निस्संशय कह सकता हूँ कि "दक्षिण के हिन्दी प्रचार आन्दोलन का समीक्षात्मक इतिहास" इस तरह का यह पहला ही ग्रन्थ है अपने ढंग का। इस ग्रन्थ में २२ अध्याय अथवा प्रकरण हैं। लेखनशैली सुन्दर और विषय का प्रतिपादन प्रामाणिक है। प्रूफ-संशोधन की खटकने वाली यत्र-तत्र कुछ भूलें रह गई हैं। यदि अन्त में, परिशिष्टरूप एक शुद्धिपत्र लगा दिया गया तो दोष-परिमार्जन हो जायगा। एक केरलवासी मलयालम्-भाषी तरुण ने अपने महानिबन्ध का जो विषय चुना और उसे सम्पूर्ण लिखा वह आँखों देखा प्रामाणिक इतिहास है। उसका हमें सराहना के साथ सुन्दर मूल्यांकन करना होगा। ऐसे ग्रन्थ की बहुत दिनों से आवश्यकता थी और केशवजी नायर ने उसकी सफलता पूर्वक पूर्ति की।

इस ग्रन्थ के २२ प्रकरणों में लेखक ने हिन्दी प्रचार आन्दोलन की सम्पूर्ण पृष्ठभूमि से लेकर विस्तार पूर्वक जो सामग्री ऐतिहासिक विवेचन के साथ निष्पक्षपात होकर प्रस्तुत की है, उससे पाठक इस विषय का विस्तृत ज्ञान प्राप्त कर सकेंगे।

मैं बड़े हर्ष और अभिमान के साथ इस ग्रन्थ की प्रस्तावना के चन्द शब्द लेखक को वन्दन-अभिनन्दन पूर्वक शुभाशीर्वाद रूप में अर्पण करता हूँ।

मंत्री-संचालक,
विदर्भ राष्ट्रभाषा प्रचार समिति,
"राष्ट्रभाषा-भवन"
उत्तर अम्बाझरी मार्ग, नागपुर-१ (महाराष्ट्र)
दिनांक ३१ अगस्त, १९६३

—हृषीकेश शर्मा

अध्यायक्रम और विषय-सूची

प्रकरण २

प्रकरण ३

प्रकरण ४

प्रकरण ५

प्रकरण ६

प्रकरण ७

प्रकरण ८

प्रकरण ९

प्रकरण १०

प्रकरण ११

प्रकरण १२

प्रकरण १३

प्रकरण १४

प्रकरण १५

प्रकरण १६

प्रकरण १७

प्रकरण १८

प्रकरण १९

प्रकरण २०

प्रकरण २१

प्रकरण २२

प्रकरण १

दक्षिण में हिन्दी-प्रचार आन्दोलन की पृष्ठभूमि

सन्त समाज में हिन्दी—

इतिहास से पता चलता है कि दक्षिण भारत के सन्त-समाज और भक्त-मण्डलियों में विचार-विनिमय के लिए वर्षों पूर्व ही हिन्दी का व्यवहार होता था। हरि-भजन, कीर्तन, हरिकथा-कालक्षेप (हरिकथा का संगीतयुक्त प्रवचन) आदि में हिन्दी के कीर्तन और पद गाये जाते थे। आज भी दक्षिण की भजन-मण्डलियों में कबीर, मीरा, सूर, तुलसी, तुकाराम आदि के पद गाये जाते हैं। उपर्युक्त बातों से यह बात सिद्ध होती है कि दक्षिण-भारत के व्यापारी केन्द्रों, सन्त-समाजों, भक्त-मण्डलियों एवं तीर्थ-स्थानों में हिन्दी एक सामान्य भाषा के रूप में वर्षों पूर्व से ही व्यवहृत होती आ रही है।

दक्षिण में मुसलमानों के शासन-काल में उर्दू का प्रचार हुआ। अरबी-फारसी के शब्दों से भरी हुई उस हिन्दी का नाम "दक्खनी" पड़ा। यह "दक्खनी" आगे चलकर उर्दू या हिन्दुस्तानी कहलायी। दक्षिण में वह "तुर्क" भाषा भी कहलाती थी। उसी काल में दक्षिण में फारसी की पढ़ाई की व्यवस्था भी की गयी थी। इस सम्बन्ध में आन्ध्र के नेता स्व० देशभक्त कोंडा वेंकटप्पय्या जी ने अपने आत्मचरित में यों लिखा है :—

"उस ज़माने में (सन् १८६०—'८०) फारसी के नाम से बच्चों को उर्दू पढ़ाई जाती थी। इस कारण फारसी के विद्वान हमारे प्रान्त में हुआ करते थे।"[1]

अंग्रेज़ी का आधिपत्य—

अंग्रेज़ शासकों ने अपने शासन को सुस्थायी और सुदृढ़ बनाने के लिए भारत में अंग्रेज़ी भाषा का प्रचार किया। यह मानी हुई बात है कि विजित देश पर विजेता लोगों का आधिपत्य सुस्थिर बनाने के लिए सबसे पहले वे अपनी भाषा और सभ्यता का प्रचार करना आवश्यक समझते हैं। अंग्रेज़ों ने भी वही किया। उन्होंने अंग्रेज़ी भाषा के साथ-साथ अंग्रेज़ी वेश-भूषा, अंग्रेज़ी रंग-ढंग और अंग्रेज़ी विचार-धारा का प्रयोग किया। इसमें उनको सम्पूर्ण सफलता मिली। अंग्रेज़ी का प्रचार

---

१. 'सत्यनारायण अभिनन्दन ग्रन्थ' (हिन्दी प्रचार का इतिहास) (आन्ध्र)। पृष्ठ १

तेज़ी से बढ़ा। अंग्रेज़ी सभ्यता से लोग प्रभावित हुए। वे अपने ही देश के लोगों से अंग्रेज़ी में बातें करने में अभिमान का अनुभव करने लगे। आज भी वही 'आत्मा की पराधीनता', यानी परम्परागत दासत्व-मनोवृत्ति अंग्रेज़ी शिक्षित जन-समाज में देख सकते हैं।

लार्ड मेकाले का मधुर स्वप्न—

अंग्रेज़ों के मधुर स्वप्न को सफल बनाने का प्रयत्न भारतीयों ने उनसे भी बढ़ कर किया। क्योंकि अपने मालिक को खुश करने के लिए गुलामों के लिए यह आवश्यक ही था। अंग्रेज़ी के माध्यम से ही अंग्रेज़ों ने इस विशाल देश पर अपना सिक्का जमाया। सन् १८८३ में लिखे लार्ड मेकाले की रिपोर्ट से हमें इस बात का स्पष्ट प्रमाण मिलता है कि भारत में अंग्रेज़ी शिक्षा का प्रचार उन्होंने हमें गुलाम बनाये रखने के लिए ही किया था। उनकी सलाह यह थी—"हमें चाहिए कि एक ऐसी जाति का निर्माण करें, जो हमारी लाखों प्रजा के बीच दुभाषिये का काम करे अर्थात् अंग्रेज़ी पढ़े-लिखे भारतीयों का एक ऐसा वर्ग बन जाय जो खून और रंग में भारतीय रहे, किन्तु रुचि, विचार, नैतिक दृष्टि और बुद्धि में पूरा अंग्रेज़ हो जाय।"

भारत में अंग्रेज़ी शिक्षा-दीक्षा के पीछे उनकी क्या कल्पना थी या उनका क्या स्वप्न था, इसका पता उपर्युक्त उद्धरण से हमें भली-भाँति लग सकता है। वास्तव में लार्ड मेकाले साहब का मनोरथ पूरा हुआ। अंग्रेज़ी शिक्षा-दीक्षा का प्रभाव भारतीय जन-जीवन के सभी पहलुओं पर पड़ा। आर्थिक, सांस्कृतिक, राजनीतिक, सामाजिक, शैक्षणिक आदि सभी क्षेत्रों में आज भी हम उसकी अमिट छाप देख सकते हैं।

राष्ट्रीय चेतना और स्वदेशी-भावना—

दक्षिण आफ्रिका से स्वदेश लौटने पर गाँधी जी ने भारत की स्थिति-गति का गहरा अध्ययन किया। वर्षों की दासता में पड़ी हुई छत्तीस करोड़ भारतीय जनता की दुर्दशा के मर्मभेदी दृश्य एक-एक कर के उनकी आँखों के सामने फिरे। इन पददलित पीड़ित तथा निस्तेज आत्माओं में उन्होंने अपनी ही आत्मा की पीड़ा का अनुभव किया। देश की रूढ़ि-ग्रस्त सामाजिक एवं आर्थिक रीति-नीति भी देश के उत्कर्ष में उन्हें बाधाजनक मालूम पड़ी। उनकी पैनी दृष्टि जहाँ अतीत और वर्तमान की गहराई तक जा कर देश की सर्वांगीण शिथिलता के मूल कारणों को ढूँढ़ निकालने में समर्थ थी, वहाँ अन्धकारपूर्ण भविष्य की अनन्तता को मापते हुए बहुत दूर तक जा कर भारत के लिए एक उज्ज्वल भविष्य की रूप-रेखा तैयार करने में भी समर्थ थी। उन्होंने देश का पुनरुत्थान करने का दृढ़ संकल्प कर लिया। परन्तु यहाँ की सड़ी-गली सामाजिक तथा आर्थिक स्थिति को सुधारे बिना देश के नव-निर्माण का कार्य उन्हें अत्यन्त दुष्कर प्रतीत हुआ।

राजनीतिक पराधीनता—

राजनीतिक पराधीनता के कारण विदेशी सरकार की कठोर शोषण-नीति के शिकार बने हुए करोड़ों देशवासियों के नवोत्थान की बात उन्हें तभी संभव प्रतीत हुई जब कि भारत संपूर्णतः पराधीनता के अभिशाप से मुक्त हो जाय। उन्हें यह भी मालूम हुआ कि भारतवासी न केवल अपने भौतिक जीवन में ही पराधीन हैं, वरन् अपने आध्यात्मिक जीवन में भी सर्वथा परतंत्र हैं। भारत के शिक्षित वर्ग की वेश-भूषा, रहन-सहन और आचार-विचार में उन्होंने अंग्रेज़ी सभ्यता का रंग चढ़ा हुआ पाया।

आत्मा की पराधीनता—

गाँधी जी ने यह भी अनुभव किया कि भारतीय जनता के हृदय में आत्म-गौरव की भावना का स्रोत बिलकुल सूखा हुआ है। अतः वह अपने हृद्गत-भावों के आदान-प्रदान में भी अपने 'प्रभु' की भाषा का सहारा ले रही है। इससे उनको बड़ी व्यथा हुई। उनके विचार में आत्मा की यह पराधीनता अन्य सब पराधीनताओं की जड़ है। इसी विचार-धारा ने उनके हृदय में स्वदेशी भावना को जन्म दिया। भारत के स्वाधीनता-संग्राम के मूल में हम उनकी इसी स्वदेशी भावना की प्रेरक-शक्ति देख सकते हैं। उनकी रचनात्मक कार्य-प्रणाली इस स्वदेशी भावना की उपज है।

हिन्दी प्रचार-संस्था—

खादी-प्रचार, ग्राम-सुधार, स्वदेशी वस्तुओं का प्रचार, विदेशी-वस्तु-निषेध, मादक द्रव्यवर्जन, राष्ट्रीय शिक्षा, राष्ट्रभाषा-प्रचार, हिन्दू-मुसलिम एकता, अस्पृश्यता-निवारण आदि इस रचनात्मक कार्यपद्धति के प्रमुख अंग बने। इस पद्धति को सुगम, सुसंगठित तथा सुस्थायी रूप से कार्यान्वित करने के लिए गांधीजी ने कई संस्थाएँ खोलीं। दक्षिण भारत हिन्दी-प्रचार सभा भी उनमें से एक है।

स्वदेशी की व्याख्या—

गाँधी जी के विचार में स्वदेशी की भावना प्रतिशोध अथवा विरोध की परिचायक मनोवृत्ति नहीं है। उन्होंने स्वदेश की व्याख्या बहुत ही व्यापक ढंग से की है। उनके मत में स्वदेशी भावना वही है जिससे प्रेरित होकर जहाँ तक संभव हो, मनुष्य स्वावलम्बी बने। उनका कथन है कि मनुष्य में अपने धर्म, अपनी भाषा तथा अपनी वेश-भूषा में अटल रहने की आत्मचेतना इस स्वदेशी भावना से ही उत्पन्न हो सकती है। इसलिए वे बार-बार कहते थे कि जब तक भारत में स्वदेशी संस्कृति की आधार-शिला सुदृढ़ नहीं होगी तब तक सच्चे अर्थ में यहाँ न तो स्वदेशी का प्रचार होगा और न यहाँ के राष्ट्रीय जीवन के नव-निर्माण में सुगमता प्राप्त होगी।

यही कारण है कि उन्होंने स्वदेशी-आन्दोलन में देश-भाषा, स्वदेशीय शिक्षा आदि को सबसे अधिक महत्व दिया है। भारत की वर्तमान पंचवर्षीय योजना के मूल में गाँधी जी की इस रचनात्मक स्वदेशी भावना की प्रेरणा प्रकट हुई है।

राष्ट्रीय शिक्षा—

गाँधी जी ने राष्ट्र के नव-निर्माण के लिए स्वदेशीव्रत को जितना महत्व दिया, उतना ही राष्ट्रीय शिक्षा को भी दिया था। उनका दृढ़ विश्वास था कि अंग्रेज़ी शिक्षा-प्रणाली भारतवासियों के लिए अत्यन्त हानिकारक है। उसमें अंग्रेज़ों की स्वार्थ-सिद्धि की गूढ़तम भावना छिपी हुई उन्हें देख पड़ी। अंग्रेज़ी शिक्षा-दीक्षा का उन्होंने यह भी बुरा प्रभाव देखा कि अंग्रेज़ी पढ़े-लिखे, उच्च शिक्षित कहलाने वाले लोग अपने देश के पूर्व गौरव, इतिहास आदि के सम्बन्ध में या तो बिलकुल अनभिज्ञ रहते हैं या जानते हुए भी उनके प्रति अवज्ञा का भाव रखते हैं। भारत के राजनीतिक क्षेत्र में गाँधी जी के पदार्पण करने से पूर्व देश के इने-गिने नेताओं ने भी अंग्रेज़ी शिक्षा-प्रणाली को देश के लिए अनुपयुक्त बताया था और उसके विरोध में आवाज भी उठायी थी। परन्तु तब 'नक्कारखाने में तूती की आवाज' कौन सुनता ?

सन् १९२० में जब गाँधी जी ने असहयोग-आन्दोलन आरंभ किया तो कांग्रेस के कार्य-क्रम में राष्ट्रीय शिक्षा को भी समुचित स्थान दिया गया। वे राष्ट्रीय शिक्षा को कोरे आन्दोलन का रूप नहीं देना चाहते थे। उनकी इच्छा थी कि राष्ट्रीय शिक्षा पाने वालों में आत्मगौरव और स्वावलंबन का भाव पैदा हो और वे राष्ट्र के कल्याण के लिए आत्मत्याग करने वाले आदर्श सेवक बनें। उन दिनों असहयोग आन्दोलन के फलस्वरूप, जो हजारों विद्यार्थी स्कूल-कालेज छोड़ कर बाहर आते थे, उनकी शिक्षा-दीक्षा की व्यवस्था करना उन्हें अत्यन्त आवश्यक मालूम हुआ।

राष्ट्रीय विद्यालय—

इस आवश्यकता की पूर्ति के लिए जगह-जगह पर विद्यालय खोले गये। ये संस्थाएँ सरकारी नियंत्रण से सर्वथा स्वतंत्र थीं। इनमें देशी भाषा के माध्यम से पढ़ाई की व्यवस्था की गयी। राष्ट्रीय दृष्टिकोण से इतिहास, राजनीति आदि पढ़ाने पर जोर दिया गया। विद्यार्थियों की सादगी और सच्चरित्रता पर विशेष ध्यान रखा गया। काम पड़ने पर विद्यार्थियों को अपने अध्यापकों के साथ राजनीति के आन्दोलन में भाग लेने की आज़ादी दी गयी। इन संस्थाओं के अध्यापकों और विद्यार्थियों का पारस्परिक सम्बन्ध बड़ा घनिष्ठ बना। उनका अनुशासन भी बहुत ही संतोषजनक रहा। असहयोग आन्दोलन के बन्द हो जाने पर इन संस्थाओं में विद्यार्थियों की संख्या कम हो गयी। अतः कुछ संस्थाएँ बन्द हो गयीं। और अपने आदर्श को सामने रखते हुए आगे भी वर्षों तक चलती रहीं। राष्ट्रीय शिक्षा के सम्बन्ध में

काँग्रेस के इतिहास में यों लिखा है :—"हाँ, राष्ट्रीय शिक्षा के क्षेत्र में अलबत्ता आशातीत सफलता दिखाई पड़ी। गाँधी जी ने देश के नौजवानों से अपील की थी और उसका जवाब उनकी ओर से उत्साह के साथ मिला, यह काम महज़ बहिष्कार तक ही सीमित न था। राष्ट्रीय विद्यापीठ, राष्ट्रीय कालेज और राष्ट्रीय विद्यालय जगह-जगह खोले गये।.........इस तरह चार महीनों के भीतर राष्ट्रीय मुसलिम विद्यापीठ, अलीगढ़, गुजरात विद्यापीठ, बिहार-विद्यापीठ, बंगाल राष्ट्रीय विद्यालय, तिलक महाराष्ट्र विद्यापीठ, और एक बड़ी तादाद में राष्ट्रीय स्कूल देश में चारों ओर खुल गये। हजारों विद्यार्थी उनमें आये। राष्ट्रीय शिक्षा को जो देश में प्रोत्साहन मिल रहा था, उसका यह फल था"—[१]

राष्ट्रीय शिक्षा में मातृ-भाषा और राष्ट्र-भाषा का स्थान—

राष्ट्रीय शिक्षा में मातृ-भाषा तथा राष्ट्र-भाषा के स्थान के संबंध में गाँधी जी के विचार बड़े ही महत्वपूर्ण हैं। प्रत्येक प्रादेशिक भाषा को यथोचित महत्व देते हुए समूचे देश के लिए एक राष्ट्र-भाषा या देश-भाषा की आवश्यकता पर उन्होंने ज़ोर दिया। लेकिन वे भली-भाँति जानते थे कि अंग्रेज़ सरकार न तो देश के लिए देश-भाषा को राष्ट्र-भाषा के रूप में विकसित करना पसंद करेगी और न प्रादेशिक भाषाओं का विकास होने देगी। प्रान्तीय भाषाओं का गला घोंटनेवाली इस सरकारी नीति से गाँधी जी बहुत ही चिन्तित हुए।

भारत की राष्ट्रभाषा—

गाँधी जी की हार्दिक अभिलाषा थी कि समस्त देश के लिए भारत में सबसे अधिक प्रचलित भाषा हिन्दी या हिन्दुस्तानी को राष्ट्रभाषा का पद प्राप्त हो। लिपि की समस्या पर उन्होंने हठ-धर्मी नहीं दिखाई। उनका विचार था कि हिन्दू और मुसलमानों को किसी भी लिपि (नागरी या उर्दू) में लिखने की छूट दी जानी चाहिए। इस सम्बन्ध में उन्होंने सन् १९०९ में ही अपने विचार अपनी हिन्द स्वराज्य नामक पुस्तक में यों प्रकट किये थे।

उर्दू या नागरी लिपि—

"सारे हिन्दुस्तान के लिए तो हिन्दी ही होनी चाहिए। उसे उर्दू या नागरी लिपि में लिखने की छूट रहनी चाहिए। हिन्दू-मुसलमानों के विचारों को ठीक रखने के लिए बहुतेरे हिन्दुस्तानियों का दोनों लिपियाँ जानना जरूरी है।"[२]

हिन्दी-उर्दू-एक ही भाषा—

गाँधी जी के विचारों में उर्दू और हिन्दी एक ही भाषा के दो नाम हैं। हिन्दी

---

१. काँग्रेस का इतिहास भाग २ पृष्ठ—१०२ (असहयोग पूरे ज़ोरों में १९२१)

२. हिन्द स्वराज १९०९ पृष्ठ १२४।

और उर्दू को अलग भाषाएँ माननेवालों की दलीलों को वे वास्तविक नहीं मानते थे, यदि मानते भी थे तो उस समस्या पर उन्होंने उन दिनों बड़ी गम्भीरता के साथ विचार करना आवश्यक नहीं समझा।

सन् १९१७ में भड़ौंच में हुई दूसरी 'गुजरात शिक्षा परिषद' की बैठक में सभापति पद से दिये गये भाषण का अंश जो यहाँ उद्धृत है, इसका स्पष्ट प्रमाण है।

"हिन्दी भाषा मैं उसे कहता हूँ, जिसे उत्तर में हिन्दू और मुसलमान बोलते हैं और जो देवनागरी या उर्दू लिपि में लिखी जाती है"।[1]

गाँधी जी ने स्वयं यह बात स्वीकार भी की थी कि उनकी उपर्युक्त व्याख्या का कुछ विरोध हुआ है। नीचे के उद्धृत अंश से यह बात प्रकट हो सकती है।

"इस व्याख्या के खिलाफ थोड़ा विरोध पाया गया है।"[2]

फिर भी गाँधी जी ने उर्दू और हिन्दी को एक ही भाषा मान कर उसी को राष्ट्रभाषा बनाने पर जोर दिया। हिन्दी और उर्दू को अलग-अलग माननेवालों की दलीलों का खंडन करते हुए उन्होंने उस भाषण में यों कहा था—

"दलील यह की जाती है कि हिन्दी और उर्दू दो अलग भाषाएँ हैं। यह दलील वास्तविक नहीं है। 'हिन्दुस्तान के उत्तरी हिस्से में मुसलमान और हिन्दू दोनों एक ही भाषा बोलते हैं। भेद सिर्फ पढ़े-लिखों ने पैदा किया है। यानी पढ़े लिखे हिन्दू हिन्दी को केवल संस्कृतमय बना डालते हैं। नतीजा यह होता है कि कई मुसलमान उसे समझ नहीं पाते। मुसलमान भाई फारसीमय उर्दू बोल कर उसे ऐसी शक्ल दे देते हैं कि हिन्दू समझ न सकें। ये दोनों पर-भाषा हैं और आम जनता के बीच इनको कोई जगह नहीं। मैं उत्तर में रहा हूँ, हिन्दुओं और मुसलमानों के साथ खूब मिला हूँ, हिन्दी भाषा का मेरा अपना ज्ञान बहुत कम होने पर भी उनके साथ व्यवहार करने में मुझे जरा भी अड़चन नहीं हुई है। उत्तरी हिन्दुस्तान में जिस भाषा को वहाँ का जन-समाज बोलता है, उसे आप चाहे उर्दू कहें, चाहे हिन्दी, बात एक ही है। उर्दू लिपि में लिख कर उसे उर्दू के नाम से पहचानिये और उन्हीं वाक्यों को नागरी में लिख कर उसे हिन्दी ही लीजिये।"[3]

ऊपर के उद्धरण से हम समझ सकते हैं कि गाँधी जी हिन्दी की किसी भी शैली का समर्थन नहीं करते थे। उनका विश्वास था कि देश की अधिकांश जनता जिस भाषा का व्यवहार करती है वही देश की राष्ट्र-भाषा बनने की योग्यता रखती है। उनको इसका प्रत्यक्ष अनुभव हुआ था कि उत्तर भारत की अधिकांश जनता हिन्दी

---

१. राष्ट्रभाषा हिन्दुस्तानी।

२. " " पृष्ठ ५—६०।

३. राष्ट्रभाषा हिन्दुस्तानी, पृष्ठ ५—६।

बोलती और समझती है, अतएव हिन्दी एक प्रकार से राष्ट्र-भाषा के रूप में वहाँ की जनता में व्यवहृत हो चुकी है। लेकिन दक्षिण की समस्या ही उन्हें अधिक जटिल मालूम हुई। उनका विश्वास था कि जब तक दक्षिण के द्राविड़-भाषा भाषी हिन्दी का व्यावहारिक ज्ञान प्राप्त नहीं कर सकेंगे तब तक देश की राष्ट्रभाषा की समस्या हल नहीं हो सकेगी। इसी विचार से प्रेरित हो कर उन्होंने दक्षिण में हिन्दी प्रचार का नेतृत्व ग्रहण किया था।

हिन्दी को राष्ट्र-भाषा माननेवाले आदि मनीषी

राजा राममोहन राय—

राष्ट्रभाषा हिन्दी के द्वारा देश की जनता को एक सूत्र में बाँधने की कल्पना गाँधी जी के पहले इने-गिने भारतीय नेताओं और महान सुधारकों के मन में उठी थी। पहले पहल स्व० राजा राममोहन राय ने जिनकी मातृभाषा बंगला थी, यह आशा प्रकट की थी कि कोई एक भारतीय भाषा विकसित हो, जो आसेतु हिमाचल फैले हुए भारतीय राष्ट्र की उमंगों और अभिलाषाओं को व्यक्त करने का साधन बने। सन् १८२६ से वे अपने पत्र 'बंगदूत' में जो हिन्दी, अंग्रेजी, बंगला और फारसी में छपता था स्वयं हिन्दी में भी लिखते थे और दूसरों को प्रोत्साहित भी करते थे।

महर्षि दयानंद सरस्वती—

आर्यसमाज के संस्थापक तथा देश के महान सुधारक महर्षि दयानंद सरस्वती ने भी जिनकी मातृभाषा गुजराती थी, भारत के लिए एक राष्ट्रभाषा की आवश्यकता का अनुभव किया था। उन्होंने स्वयं हिन्दी पढ़ी और सबसे पहला व्याख्यान सन् १८७४ में काशी में दिया था। स्वामीजी ने स्वरचित अधिकांश ग्रन्थों में हिन्दी का ही उपयोग किया है। अपनी सुप्रसिद्ध पुस्तक "सत्यार्थ प्रकाश" उन्होंने हिन्दी में ही लिखी।

'हिन्दी प्रचारक' १९३९ के अंक के राष्ट्रभाषा हिन्दी का दिव्य सन्देश शीर्षक में स्वामी सत्यदेव जी ने एक लेख लिखा था। स्वामी जी के इस लेख से स्पष्ट है कि आर्यसमाज के संस्थापक महर्षि दयानन्द सरस्वती ने ही महात्मा गाँधी जी के पूर्व आसेतु हिमाचल की भारतीय जनता को एक राष्ट्र-भाषा के सूत्र में बाँधने का स्वप्न देखा था और उसे सफल बनाने के लिए आर्य-भाषा हिन्दी का प्रचार भी आरम्भ कर दिया। स्वामी दयानन्द सरस्वती की मातृ-भाषा गुजराती थी। फिर भी उन्होंने हिन्दी को राष्ट्र-भाषा के योग्य समझ कर अपने धार्मिक ग्रन्थों की रचना हिन्दी में ही की।

श्री सत्यदेव जी ने इस लेख में भारत के सामाजिक तथा राजनीतिक संगठन, आर्थिक उन्नति और आध्यात्मिक उन्नति पर प्रकाश डाला है और देश की जनता को

एक माध्यम में न पिरोये जाने पर भविष्य में होनेवाली स्थिति-गति का ही दिग्दर्शन कराया है। उनके विचार यों हैं :—

"सत्तर वर्ष हुए एक लंगोट-बंद गुजराती भाषा-भाषी संन्यासी ने स्वराज्य का स्वर्गीय स्वप्न देखा था। उस स्वप्न को देखकर वह विस्मित हो उठा। 'किस प्रकार मेरा स्वप्न पूरा होगा'—यह भावना उसके हृदय में उठी। हिमाचल से कन्याकुमारी तक और पेशावर से बर्मा तक फैला हुआ यह विशाल भूखंड एकता के सूत्र में बाँधे बिना क्या कभी स्वराज्य प्राप्त कर सकता है? कदापि नहीं। तो किस प्रकार इस एकता के प्रेम-बन्धन में बाँधना चाहिए? इसी प्रश्न को लेकर वह विरक्त श्रीभागीरथी के किनारे विचरने लगा। श्रीगंगा जी की लहरें उसे अपना सन्देश सुनाने लगीं और उस पवित्र नदी के किनारे पर रहनेवाले लोगों की भाषा उसके अन्तःकरण को मुदित करने लगी। उसे अपने प्रश्न का हल मिल गया और उसने जान लिया कि इसी भाषा के द्वारा उसका प्यारा देश दासता की जंजीरों से मुक्त हो सकता है।

वह गम्भीरता से विचार करने लगा और अपने भावी प्रोग्राम के प्रत्येक पहलू पर उसने गहरी दृष्टि डाली। इस हिन्दी के द्वारा सारा भारत एक सूत्र में पिरोया जा सकता है। हिन्दू तो इसके झंडे के नीचे आ ही जायेंगे; मुसलमानों के लिए भी इसका अपनाना आसान होगा, क्योंकि उर्दू भाषा का सारा ढाँचा हिन्दी का रूप ही लिए हुए है।

"इस प्रकार उसने सबसे पहले अपनी मातृ-भाषा को एक तरफ रखकर देश की राष्ट्र-भाषा का आलिंगन किया और अपने धार्मिक ग्रन्थ राष्ट्र-भाषा हिन्दी में लिखे। यहीं से हिन्दी का दिव्य सन्देश प्रारम्भ हुआ।"[1]

गुरुकुलों में हिन्दी की शिक्षा—

स्वामी जी ने हिन्दी को आर्य-भाषा और हिन्दी की लिपि का नाम देवनागरी कहा है। गुरुकुलों में हिन्दी की पढ़ाई की व्यवस्था करने का श्रेय आपको दिया गया है। हिन्दी को राष्ट्र-भाषा मानकर उसका प्रचार धार्मिक क्षेत्र में करनेवाले सर्वप्रथम महान धार्मिक सुधारक स्वामी दयानन्द सरस्वती ही थे।

श्री केशवचन्द्र सेन—

बंगाल के धार्मिक, सांस्कृतिक तथा राजनीतिक क्षेत्र में श्री केशवचन्द्र सेन सुविख्यात हो गये हैं। उन्होंने सन् १८७५ में भारत की एकता के लिए एक राष्ट्र-भाषा की आवश्यकता का अनुभव किया था और राष्ट्र-भाषा के पद के लिए हिन्दी को

---

१. हिन्दी प्रचारक १९३९।

ही उपयुक्त माना था। लगभग १० वर्ष पहले उन्होंने इस सम्बन्ध में जो विचार व्यक्त किये थे वे उसके स्पष्ट प्रमाण हैं :—

"यदि एक भाषा के न होने के कारण भारत में एकता नहीं होती है तो और चारा ही क्या है? तब सारे भारतवर्ष में एक ही भाषा का व्यवहार करना ही एक-मात्र उपाय है। अभी कितनी ही भाषाएँ भारत में प्रचलित हैं, उनमें हिन्दी भाषा ही सर्वत्र प्रचलित है। इसी हिन्दी को भारतवर्ष की एक मात्र भाषा स्वीकार कर लिया जाय तो सहज ही में यह (एकता) संपन्न हो सकती है। किन्तु राज्य की सहायता के बिना यह कभी भी संभव नहीं है। अभी अंग्रेज़ हमारे राजा हैं, वे इस प्रस्ताव से सहमत होंगे, ऐसा विश्वास नहीं होता। भारतवासियों के बीच फिर फूट नहीं रहेगी, वे परस्पर एक हृदय हो जाएँगे आदि सोचकर शायद अंग्रेज़ों के मन में भय होगा। उनका ख्याल है कि भारतीयों में फूट न होने पर ब्रिटिश साम्राज्य भी स्थिर नहीं रह सकेगा।"[1]

श्री भूदेव मुखर्जी—

करीब ७० वर्ष पूर्व बंगाल के सुप्रसिद्ध नेता स्व० श्री भूदेव मुखर्जी ने हिन्दी-हिन्दुस्तानी को राष्ट्र-भाषा माना था और अपने तत्संबन्धी विचार उन्होंने यों प्रकट किये थे—"भारत की प्रचलित भाषाओं में हिन्दी-हिन्दुस्तानी ही प्रधान है, एवं मुसलमानों की कृपा से वह सारे देश में व्याप्त है। अतएव यह अनुमान किया जा सकता है कि इसी का (हिन्दी का) अवलंबन कर किसी सुदूर भविष्य में सारे भारतवर्ष की भाषा सम्मिलित रह सकेगी।"[2]

महात्मा हंसराज—

आर्यसमाज के प्रभावशाली नेताओं में महात्मा हंसराज का स्थान सबसे ऊँचा है। शिक्षा के क्षेत्र में उनकी सेवाएँ विशेष महत्व की रही हैं। हिन्दी के प्रचार-प्रसार में वे हमेशा दत्तचित्त रहे। उनके सम्बन्ध में डा० ज्ञानवती दरबार ने अपनी 'भारतीय नेताओं की हिन्दी-सेवा' नामक पुस्तक में यों लिखा है :—

"जीवन भर उनका कार्यक्षेत्र शिक्षा रहा और इस दीर्घ अवधि में उन्होंने सदा हिन्दी को अपने कार्यक्रम में उच्च स्थान दिया। जिन उद्देश्यों को सामने रख कर सन् १८८५ में डी० ए० वी० कालेज की स्थापना हुई, उसमें हिन्दी भाषा को प्रोत्साहन देना और हिन्दी-साहित्य को समृद्ध करने की प्रेरणा देना भी सम्मिलित थे। इन संस्थाओं के प्रमुख अधिकारी होने के नाते महात्मा हंसराज ने समाज के

---

१. हिन्दी ही क्यों—कमला देवी गर्ग, एम. ए. पृष्ठ–२।

२. हिन्दी ही क्यों—कमला देवी गर्ग एम. ए.—पृष्ठ–३।

इस नियम का अक्षरशः पालन किया। उन्होंने स्वयं हिन्दी सीखी और दूसरों को सिखाने की लगन सदा उनमें रही। उन्होंने डी० ए० वी० कालेज, लाहौर के प्रत्येक विद्यार्थी के लिए हिन्दी पढ़ना अनिवार्य कर दिया······।

"आधुनिक भारतीय भाषाओं को प्रोत्साहित करने के सम्बन्ध में पंजाब विश्वविद्यालय ने जो नियम बनाये, जिनके अनुसार रत्न, भूषण, प्रभाकर इत्यादि परीक्षाओं की व्यवस्था की गयी, उस नियम को सेनेट द्वारा स्वीकृत कराने में महात्मा हंसराज तथा लाला लाजपतराय का बड़ा हाथ था। इन परीक्षाओं के कारण प्रतिवर्ष हजारों लोग हिन्दी पढ़ने लगे।"[१]

स्वामी श्रद्धानन्द—

हिन्दी को राष्ट्र-भाषा मानकर उसके सर्वव्यापक प्रचार के लिए प्रयत्न करनेवाले महान तपस्वी थे, स्वामी श्रद्धानन्द। गाँधीजी के साथ उनकी अभिन्न मित्रता थी। भारत के राजनैतिक आन्दोलन में सन् १८८८ से पहले ही वे भाग लेने लगे थे। सन् १९१९ में अमृतसर-कांग्रेस के अधिवेशन में स्वागताध्यक्ष की हैसियत से उन्होंने हिन्दी में जो भाषण दिया था, वह महात्मा गाँधी जी के लिए भी स्फूर्तिदायक था। क्योंकि कांग्रेस के मंच से हिन्दी का यह सर्वप्रथम ऐतिहासिक भाषण था।

उनके उस भाषण पर प्रकाश डालते हुए डा० ज्ञानवती दरबार यों लिखती हैं:—

"तत्कालीन परिस्थितियों में, जिनका रूप अंग्रेजी भाषा की प्रधानता के कारण आज भी बहुत नहीं बदला है, हिन्दी का यह भाषण, भाषा की दृष्टि से तो नहीं, स्वामी जी के क्रान्तिकारी साहस की दृष्टि से युगांतरकारी महत्व रखता है।

इस प्रकार से उन्होंने गाँधी जी का भी ध्यान अपने हिन्दी-प्रेम तथा राष्ट्र-भाषा के महत्व की ओर दिलाया और गाँधी जी के अंग्रेज़ी पत्र का उत्तर हिन्दी में दिया, जिसके फलस्वरूप गाँधी जी ने उनके साथ के पत्र-व्यवहार, वार्तालाप इत्यादि में सदा हिन्दी का ही प्रयोग किया।"[२]

लोकमान्य बालगंगाधर तिलक—

भारत के महान नेता लोक-मान्य तिलक ने सन् १९१७ के बाद महात्मा गाँधी जी की प्रेरणा से हिन्दी सीखी और उसके बाद अक्सर सार्वजनिक सम्मेलनों में हिन्दी में भाषण देते थे। वे पहिले ही से हिन्दी को भारत की राष्ट्र-भाषा बनने योग्य समझते थे, और अहिन्दी प्रान्तों में भी उसका शीघ्रातिशीघ्र प्रचार एवं प्रसार चाहते थे।

---

१. डा० ज्ञानवती दरबार—"भारतीय नेताओं की हिन्दी-सेवा" पृष्ठ १००।

२. डा० ज्ञानवती दरबार—"भारतीय नेताओं की हिन्दी सेवा" पृष्ठ ११३।

पं० मदनमोहन मालवीय—

भारत के राजनैतिक, सांस्कृतिक तथा शैक्षणिक क्षेत्रों में मालवीय जी की देन अमर है। काशी हिन्दू-विश्वविद्यालय की स्थापना (१९१७) के बाद उसके द्वारा हिन्दी के प्रसार एवं श्री वृद्धि में जो सहायता पहुँची, उसका मूल्य शब्दों में आंका नहीं जा सकता। उनकी हिन्दी सेवा के सम्बन्ध में डा० ज्ञानवती दरबार यों लिखती हैं :—

"हिन्दी साहित्य सम्मेलन' जैसी संस्थाओं की स्थापना द्वारा, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय तथा अन्य शिक्षण-केन्द्रों के निर्माण द्वारा और सार्वजनिक रूप से हिन्दी आन्दोलन का नेतृत्व कर उसे सरकारी दफ्तरों में स्वीकृत करा के मालवीय जी ने हिन्दी की सेवा की, उसे साधारण नहीं कहा जा सकता। उनके प्रयत्नों से हिन्दी को यश, विस्तार और उच्च पद मिला।"[१]

श्री कृष्ण स्वामि अय्यर—

सन् १९१० में काशी नागरी प्रचारिणी सभा की एक बैठक में भाषण देते हुए दक्षिण के सुप्रसिद्ध नेता स्व० वी० कृष्णस्वामी अय्यर (भूतपूर्व जज, मद्रास हाईकोर्ट) ने कहा था कि हिन्दी ही भारत की राष्ट्र-भाषा बनने की पर्याप्त योग्यता रखती है। ('दक्षिण में हिन्दी का प्रवेश' शीर्षक विवरण में श्री कृष्णस्वामि अय्यर का विशेष उल्लेख किया गया है)।

हिन्दी की सर्व व्यापकता—

यह विशेष उल्लेखनीय बात है कि हिन्दी के आदि समर्थक राजा राममोहन राय, स्वामी दयानन्द सरस्वती, केशवचन्द्र सेन, भूदेव मुखर्जी, महात्मा हंसराज, लोकमान्य तिलक, श्री कृष्णस्वामी अय्यर, महात्मा गाँधी आदि नेताओं में किसी की भी मातृ-भाषा हिन्दी नहीं थी। तब वर्षों पूर्व इन्होंने हिन्दी को ही राष्ट्र-भाषा के पद के लिए सर्वथा क्यों योग्य समझा था ? इसका उत्तर स्पष्ट है। हिन्दी की सर्व व्यापकता ही उसका मुख्य कारण था। उनकी दृष्टि में हिन्दी ही भारत के समस्त जनों को एक ही सूत्र में बाँधने वाली, उनकी एकता की प्रतीक स्वरूप थी।

दक्षिण में हिन्दी का प्रवेश—

दक्षिण में हिन्दी-प्रचार-सभा के स्थापित होने से सैकड़ों वर्ष पूर्व ही दक्षिण की साधारण जनता में हिन्दी-हिन्दुस्तानी का बीजारोपण हुआ था। 'हिन्दी प्रचार के कुछ संस्मरण' नामक लेख में हिन्दी-प्रचार-सभा के बुजुर्ग कार्यकर्ता पं. क. म. शिवराम शर्मा जी ने इसका स्पष्टीकरण किया है। इस लेख का नीचे उद्धृत अंश प्रामाणिक

---

१. डा० ज्ञानवती दरबार—"भारतीय नेताओं की हिन्दी-सेवा" पृष्ठ—१८२।

तथा मनोरंजक है, साथ ही इसमें सैकड़ों वर्ष पहले ही से चली आनेवाली वहाँ की हिन्दी शैली के विकृत रूप का भी थोड़ा आभास हमें मिलता है।

"लेकिन कहना चाहिए कि हिन्दी का प्रवेश दक्षिण भारत में मुसलमानों के साथ ही हुआ। आज भी अनेकों दक्षिण भारतीयों का ख्याल है कि 'हिन्दुस्तानी' एक मुसलमानी भाषा है जिस पर संस्कृत का रंग चढ़ा कर 'हिन्दी' नामक नयी भाषा बनायी जा रही है। सन् १९२६ या १९२४ की बात है। मैं तंजाउर गया था। वहाँ अपने एक पुराने मित्र से मिला। कुशल प्रश्न के बाद मैंने मित्र से पूछा कि क्यों भाई तुम्हें हिन्दी मालूम है? उसने जवाब दिया, "मुसलमान की बाषा मुषुदुम आता नै। बन्दतुकु बोले तो सोच्चतुकु अल्ला है।

मेरा मित्र काफी पढ़ा-लिखा था और 'कलचर्ड' भी था। उसका ख्याल था कि 'आता नै' जिस भाषा में है वह 'मुसलमान की 'बाषा' है और हिन्दी भी वही है। वह हमको 'मुषुदुम' (पूरा) मालूम नहीं था। 'बन्दतुकु बोले तो' (जितना उसको मालूम है उतना बोल दिया तो) 'सोच्चतुकु' (बाकी के लिए) अल्लाह था। कहने का मतलब यह कि जब उत्तर भारत से मुसलमान दक्षिण में आये तब उनके साथ-साथ उस समय की प्रचलित भाषा 'हिन्दुस्तानी' का भी यहाँ प्रवेश हुआ। चूँकि यह भाषा मुसलिम शासकों के साथ यहाँ आयी इसलिए लोगों ने सोचा कि यह मुसलमान की 'बाषा' है। अब भी 'आरकाट' की तरफ के बड़े-बड़े घराने के लोग अपनी बड़ाई करते हुए यह भी कहते हैं कि हमारे बाप-दादे हाथी-घोड़े पालते थे, और हिन्दुस्तानी सीखते थे। इससे साफ मालूम पड़ता है कि हाथी-घोड़े पालना जिस प्रकार बड़ाई की बात है वैसे ही हिन्दुस्तानी सीखना भी बड़ाई की बात है।"

दक्षिण में हिन्दुस्तानी का प्रवेश—

"मुसलमानों के अलावा महाराष्ट्रों का भी दक्षिण में आना हुआ। उनके साथ भी कई हिन्दी बोलनेवाले आये होंगे। महाराष्ट्रों ने भी दक्षिणवासियों से 'हिन्दी' भाषा के द्वारा ही व्यवहार किया होगा। इस तरह हिन्दी-हिन्दुस्तानी का प्रवेश और प्रचार दक्षिण भारत में सैकड़ों वर्ष पहले हो चुका था।

देश में जब जागृति पैदा हुई तब लोगों में सारे हिन्दुस्तान के एकीकरण का विचार भी पैदा हुआ। लेकिन एक ही देश के रहनेवाले होकर भी उत्तर के रहने वाले दक्षिणवासियों के लिए 'विदेशी' से मालूम हुए, न उनकी भाषा ये जानें, न इनकी भाषा वे। इसलिए लोग महसूस करने लगे कि जब तक यह विभिन्नता दोनों के बीच में रहेगी, तब तक हिन्दुस्तान एक राष्ट्र नहीं हो सकता। अर्थात् राष्ट्र-भाषा के बिना राष्ट्र का निर्माण नहीं हो सकता।"

राष्ट्र-भाषा की कल्पना का श्रेय—

"यह ख्याल, मुमकिन है, पहले ही नेताओं के मन में आया हो। मगर जहाँ तक मैं जानता हूँ ऐसा विचार पहले पहल स्व० श्री वी० कृष्णस्वामी अय्यर (भूतपूर्व जज, मद्रास हाईकोर्ट) ने काशी में प्रकट किया था। सन् १९११ ई० में नागरी प्रचारिणी सभा का कोई जलसा था जिसमें उक्त कृष्णस्वामी अय्यर जी और रामनाथ पुरम् के राजा स्व० राजेश्वर सेतुपति हाज़िर थे। उस जलसे में श्री कृष्णस्वामी अय्यर[1] का इस आशय का भाषण हुआ। स्वर्गीय राजेश्वर राजा साहब मुझसे बार-बार कहा करते थे, 'अजी, राष्ट्रभाषा की आवश्यकता समझने का श्रेय तुम लोगों को नहीं, मुझे और मेरे मित्र कृष्णस्वामी अय्यर को मिलना चाहिए।' मैं उनसे कहता कि श्रेय तो आपका अवश्य ही है, पर उस आवश्यकता की पूर्ति के लिये तो एक गाँधी जी की जरूरत हुई, आप लोगों ने तो कुछ किया नहीं।"[2]

राष्ट्र-भाषा हिन्दी की महत्ता

सुप्रसिद्ध फ्रेंच विद्वान् गार्सा द तासी के विचार—

सन् १७५० में सुप्रसिद्ध फ्रेंच विद्वान् गार्सा द तासी ने हिन्दी के अर्थ में 'हिन्दवी' तथा भाषा (भाखा) शब्द का प्रयोग किया था। उन्होंने उसे भारत की आम भाषा (सामान्य भाषा) माना था। स्व० पद्मसिंह शर्मा ने गार्सा द तासी के भाषण का उद्धरण देते हुए 'हिन्दी, उर्दू और हिन्दुस्तानी' नामक पुस्तक हिन्दुस्तानी एकेडेमी के लिए लिखी है। उसीका उद्धरण नीचे दिया जाता है। पाठक समझ सकते हैं कि फ्रेंच विद्वान् के विचार में देश भर की प्रचलित भाषा हिन्दी ही थी।

---

१. स्व० श्री वी० कृष्णस्वामी अय्यर ने १९१० में (मद्रास में हिन्दी प्रचार आन्दोलन का आरम्भ सन् १९१८ में होने से पूर्व—१० वर्ष पूर्व ही) हिन्दी पढ़ना शुरू किया था। ट्रिवेंड्रम (ट्रावनकोर) में हिन्दी प्रचार सभा की शाखा समिति के उद्घाटन के अवसर पर (ता० ४—६—१९३२) सभा के प्रधान मन्त्री पं० हरिहर शर्मा ने इस सम्बन्ध में यों कहा था—

"करीब २० वर्ष पहले (याने सन् १९१० के करीब) मद्रास हाई-कोर्ट के भूतपूर्व जज श्री वी० कृष्णस्वामी अय्यर ने मद्रास में हिन्दी प्रचार की आवश्यकता का अनुभव किया और आपने कुछ मित्रों के साथ हिन्दी पढ़ना भी शुरू किया था। पर मद्रास में हिन्दी प्रचार (आन्दोलन) का आरम्भ सन् १९१८ में महात्मा गाँधी जी के नेतृत्व में सुसंगठित रूप में हुआ।"

२. हिन्दी प्रचारक—जून १९३२, पृ० १९२।

"मैंने तहरीर के लिए यह ज़बान अख़्तियार की है, जो हिन्दुस्तान के तमाम सूबों की ज़बान है, यानी 'हिन्दवी' जिसे 'भाखा' कहते हैं। क्योंकि इसे आम लोग बख़ूबी समझते हैं और बड़े तबके के लोग (भद्र व्यक्ति) भी पसन्द करते हैं।"[१]

श्री रवीन्द्रनाथ ठाकुर के विचार—

विश्व कवि श्री रवीन्द्रनाथ ठाकुर अपनी मातृभाषा बंगला के अनन्य प्रेमी होते हुए भी देश की शुभ कामना से प्रेरित होकर हिन्दी को ही राष्ट्रभाषा के पद पर आसीन करने योग्य समझते थे। वे अपने गुजरात-भ्रमण में हिन्दी में भाषण दिया करते थे। इसका उल्लेख डा० सुनीतिकुमार चटर्जी के 'कराची-साहित्य सम्मेलन' के अधिवेशन के भाषण में मिलता है।

"गुरुदेव (श्री रवीन्द्रनाथ ठाकुर) से एक बार पूछा गया कि राष्ट्रभाषा के विषय में उनकी क्या राय है ? उन्होंने कहा कि बहुत वर्षों से तो अंग्रेजी ही हमारी राष्ट्रभाषा बनी हुई है, जो साधारण जनता की समझ के बिलकुल बाहर है। अगर हम भारतीयों के नैसर्गिक अधिकारों के सिद्धान्त को स्वीकार करते हैं तो हमें उस भाषा को राष्ट्रभाषा के रूप में स्वीकार करना चाहिए जो देश के सबसे बड़े हिस्सों में बोली जाती है और जिसके स्वीकार करने की सिफारिश महात्मा जी ने की है अर्थात हिन्दी।"[२]

श्री सुभाषचन्द्र बोस के विचार—

भारत के सच्चे सपूत, स्वाधीनता संग्राम के अग्रणी नेता स्व० श्री सुभाषचन्द्र बोस ने हिन्दी को भारत की राष्ट्र-भाषा मान कर उसका ज़बरदस्त समर्थन किया था। उन्होंने हिन्दी ट्रेनिंग इनस्टिट्यूट, वर्धा के दूसरे वार्षिक सम्मेलन में हिन्दी का समर्थन करते हुए अंग्रेजी की लज्जास्पद आराधना छोड़ कर राष्ट्र-भाषा हिन्दी की सेवा करने के लिए लोगों को उद्घोषित किया था। प्रान्तीय भाषा के कट्टर पन्थी मद्रासी लोगों के इस भ्रम को कि राष्ट्र-भाषा के प्रचार से प्रान्तीय भाषाओं को धक्का पहुँचेगा, दूर करने का प्रयास किया है। उनके भाषण का सारांश यों है :—

"मैं हमेशा से यह महसूस करता रहा हूँ कि भारतवर्ष में एक राष्ट्र भाषा का होना आवश्यक है। जो इस बात को नहीं मानते हैं उन्हें एक बार विदेशों की यात्रा कर लेनी चाहिए। पिछले वर्ष जब मैं वियन्ना के अपने यूरोपियन मित्र के यहाँ अन्य कई भारतीयों के साथ एक भोज में सम्मिलित हुआ तो वहाँ हम आपस में

---

१. हिन्दी-उर्दू-हिन्दुस्तानी—स्व० पद्मसिंह शर्मा—हिन्दुस्तानी एकेडेमी, पृष्ठ १८।

२. हिन्दी ही क्यों ? कमला देवी गर्ग एम. ए. पृष्ठ. २९।
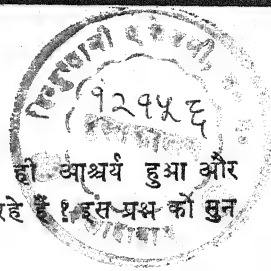
अंग्रेज़ी में बातचीत करने लगे। यूरोपियन मित्र को बड़ा ही आश्चर्य हुआ और उन्होंने पूछा कि आप लोग क्यों अंग्रेज़ी में बातचीत कर रहे हैं? इस प्रश्न को सुन कर हम लोगों का सिर लज्जा से झुक गया।

दुर्भाग्य की बात है कि हमारे देश के कुछ हिस्सों में हिन्दुस्तानी के प्रचार के सम्बन्ध में भ्रम फैला हुआ है। उदाहरण के लिए मद्रास है। वहाँ स्कूलों में हिन्दी को पाठ्य विषय बनाने का विरोध लोग करते हैं। उनकी धारणा है कि हिन्दी की पढ़ाई से मातृ-भाषा या प्रांतीय भाषा भ्रष्ट हो जायगी। प्रांतीय भाषाओं को मिटा कर उसके स्थान पर हिन्दी का आधिपत्य होगा; यह बिलकुल भ्रमपूर्ण कल्पना है। प्रान्तों में प्रान्तीय भाषाएँ प्रथम स्थान प्राप्त करेंगी। हिन्दी को तो दूसरा ही स्थान प्राप्त होगा। अतः मद्रास के लोगों का राष्ट्र-भाषा प्रचार का सच्चा उद्देश्य समझ लेना चाहिए और हिन्दी-विरोध से हाथ खींच लेना चाहिए।"[1]

श्री श्रीनिवास शास्त्री के विचार—

माननीय श्री श्रीनिवास शास्त्री राष्ट्रभाषा हिन्दी के प्रबल समर्थक थे। अंग्रेज़ी के प्रकांड विद्वान् होते हुए भी उन्होंने ज़ोरदार शब्दों में राष्ट्रभाषा हिन्दी का प्रचार अत्यन्त आवश्यक बताया था। स्कूलों, कालेजों तथा अदालतों की व्यावहारिक भाषा के रूप में हिन्दुस्तानी को ही अंगीकार करने की भी उन्होंने अपील की थी। वे हिन्दी के कितने ज़बरदस्त हिमायती थे, यह बात उनके भाषण के नीचे लिखे उद्धरण से ज्ञात हो सकती है।

"यद्यपि मैं जनतंत्र शासन का समर्थक और सहायक हूँ, तो भी मैं सोचा करता हूँ कि यदि मुझमें शक्ति होती तो मैं थोड़े समय के लिए भारत का सर्वाधिपति हो जाता। यदि भाग्य से मैं उस पद पर पहुँच जाता तो मैं कितनी ही योजनाएँ अमल में लाने की कोशिश करता। उन सबमें सबसे बढ़कर महत्वपूर्ण कार्य यह करता कि मैं सारे देश में यह आज्ञा जारी करता कि सारे स्कूलों, कालेजों, सरकारी कार्यालयों और अदालतों के माध्यम की भाषा हिन्दुस्तानी बनायी जाय।"[2]

---

१. हिन्दी ही क्यों?—कमला देवी गर्ग, एम. ए. पृष्ठ–३२।

२. I have often wished friend and champian of democracy though I am, that it were in my power for a brief spell of time to act as Dictator of all India. I had a great many schemes to put through, if I had the good fortune to be elevated to that position. But among them all, a prominent place was assigned to the edict to go all over the Country and to enforce with every authority that I could Command, that in all Schools and Colleges, in all the offices

आचार्य काका कालेलकर के विचार—

दक्षिण के हिन्दी प्रचार आन्दोलन में श्री. आचार्य काका कालेलकर का योगदान अत्यंत महत्वपूर्ण है। राष्ट्र-भाषा की समस्या पर उन्होंने जितनी गंभीरता के साथ विचार किया, शायद ही किसी ने किया हो। भाषा सम्बन्धी प्रश्नों में उन के अनुभव, योग्यता और गहरी विद्वत्ता के महात्मा गाँधी जी तक कायल रहते थे। वे राष्ट्रभाषा, राष्ट्रलिपि आदि पर समय-समय पर अपने अमूल्य विचारों से दूसरों को मार्ग-दर्शन करते रहते हैं। हिन्दी साहित्य को अति तुच्छ बना कर हिन्दी को राष्ट्र-भाषा बनाने पर आपत्ति उठानेवालों को उन्होंने मुँह-तोड़ जवाब दे कर यह साबित करने का प्रयत्न किया है कि हिन्दी का साहित्य दुनिया की अन्य किसी भी भाषा के साहित्य से किसी भी कदर निम्नकोटि का नहीं है। उन के भाषण का निम्न-लिखित अंश पठनीय है।

प्रौढ़ साहित्य—

"माना कि हिन्दुस्तान के अधिकांश लोग हिन्दी जानते हैं। फिर भी कुछ लोग पूछते हैं कि हिन्दी में प्रौढ़ साहित्य कहाँ है कि जिससे वह राष्ट्र-भाषा का श्रेष्ठ पद प्राप्त कर सके? लेकिन यह सवाल ही गलत है कि हिन्दी में प्रौढ़ साहित्य कहाँ है? आप सृष्टि-वर्णन की किसी कविता को लें, शृंगार, वीर, करुण, भक्ति या अन्य कोई रस लें दुनिया की किसी भी भाषा से हिन्दी इस विषय में पीछे न रहेगी। जिस भाषा में तुलसीदास ने अपनी रामायण लिखी, जिस भाषा में कबीर ने एकेश्वरी भक्ति-मार्ग का प्रतिपादन किया, जिस भाषा में कृष्ण के प्रति गोपियों का प्रेम व्यक्त हुआ है, जिस भाषा में विचार-सागर जैसे वेदान्त-रत्नों की रचना हुई है, जिस भाषा में सूरदास का कविता-सागर हिलोरें ले रहा है और जिस भाषा में भूषण कवि ने गो-ब्राह्मण प्रति पालक शिवाजी के प्रताप का वर्णन किया है, कौन कहेगा कि उस भाषा का साहित्य प्रौढ़ नहीं है? हो सकता है कि आधुनिक विज्ञान और अन्य शास्त्रीय शोधों पर हिन्दी में पुस्तकें न हों, और इतिहास और राजनीति की मीमांसा करनेवाले ग्रन्थ भी उसमें न हों। लेकिन यह हिन्दी का दोष नहीं है। हमारे जीवन के व्यापक बनते ही हिन्दी भाषा बात की बात में इस ओर भी जोरों से अग्रसर हो जायगी। जिस भाषा ने साहित्य के एक विभाग में अपनी क्षमता अपना सामर्थ्य और उत्कर्ष सिद्ध किया है, उस भाषा के लिए यह शंका करना उचित ही नहीं कि वह अन्य विभागों में पिछड़ जायगी।"[१]

---

of Government and all its Courts of justice, Hindustani should be recognised medium of Communication.

(दक्षिण भारत हिन्दी प्रचार सभा—१९३३-३४ के दीक्षान्त भाषण से)

१. हिन्दी ही क्यों?—कमलादेवी गर्ग एम. ए. पृष्ठ ८९।

कांग्रेस में राष्ट्र-भाषा का प्रस्ताव—

महात्मा जी जब से भारतीय राजनैतिक क्षेत्र में आये तब से एक नया ही क्रम शुरू हुआ। सन् १९१६ में लखनऊ के तथा १९१७ में कलकत्ते के कांग्रेस अधिवेशनों में उन्होंने दक्षिण भारत में राष्ट्र-भाषा हिन्दी का प्रचार करने की आवश्यकता पर जोर दिया।

इस तरह दक्षिण भारत का क्षेत्र हिन्दी प्रचार के लिए पहले ही से तैयार हो गया था। और सन् १९१८ में उसमें हिन्दी प्रचार का बीजारोपण हुआ।

नागरी प्रचारिणी सभा—

सन् १८९३ जुलाई में स्व० ठाकुर शिवकुमार सिंह के प्रयत्नों से काशी नागरी प्रचारिणी सभा स्थापित हुई थी। पहले कचहरियों में फारसी लिपि की जगह नागरी लिपि का व्यवहार कराना ही इस संस्था का मुख्य उद्देश्य था। पीछे चल कर इस संस्था की ओर से हिन्दी साहित्य की खोज और प्रकाशन का कार्य भी आरंभ हुआ। इसके अतिरिक्त साधारण जनता में हिन्दी के प्रति प्रेम उत्पन्न करना और हिन्दी साहित्य के अध्ययन एवं अनुसंधान की ओर लोगों का ध्यान आकृष्ट करना भी सभा के कार्यक्रम के अंग थे। परन्तु इस दिशा में सभा का कार्य संतोषजनक नहीं रहा।

हिन्दी साहित्य सम्मेलन—

सन् १९१० में नागरी प्रचारिणी सभा के तत्वावधान में हिन्दी साहित्य सम्मेलन की स्थापना हुई। तब से साहित्य सम्मेलन के द्वारा ही हिन्दी साहित्य के अध्ययन-अनुशीलन का कार्य होने लगा। सम्मेलन ने एक परीक्षा-क्रम निर्धारित किया। हिन्दी का अध्ययन-अध्यापन अधिक व्यापक और लोकप्रिय बना। हिन्दी पढ़नेवालों की संख्या भी बढ़ी। परीक्षायें नियमित और व्यवस्थित रूप से चलने लगीं। नवीन पत्र-पत्रिकायें निकलने लगीं, जिनसे नये प्रचारकों और नये लेखकों को प्रोत्साहन मिला। उनकी भी संख्या दिन-प्रतिदिन बढ़ने लगी। यह सर्व विदित है कि स्व० महावीर प्रसाद द्विवेदी तथा 'सरस्वती' पत्रिका का हिन्दी के विकास एवं प्रचार में बहुत ही महत्वपूर्ण हाथ रहा है।

साहित्य सम्मेलन के प्रचार-विभाग ने इस हिन्दी आन्दोलन को काफ़ी बल पहुँचाने का प्रयत्न किया। सम्मेलन के वार्षिक अधिवेशन उत्तर के प्रमुख नगरों में बड़ी धूम-धाम से होने लगे।

श्री टंडन जी का नेतृत्व—

प्रायः देश के बड़े-बड़े साहित्यकार, राजनीतिक नेता, देशी नरेश जैसे गण्यमान्य व्यक्ति इन अधिवेशनों के अध्यक्ष बनते थे। स्व० पं० मदन मोहन मालवीय जी के अनुरोध से श्री पुरुषोत्तम दास टंडन जी ने सम्मेलन का नेतृत्व ग्रहण किया। वे सम्मेलन को सुसंगठित और सशक्त बनाने का निरंतर प्रयत्न करते रहे। उन दिनों कवीन्द्र रवीन्द्र, बड़ोदा नरेश श्री सयाजी राव गायकवाड़ जैसे विख्यात व्यक्तियों का सम्मेलन का अध्यक्ष-पद ग्रहण करना संस्था की प्रतिष्ठा तथा यश का परिचायक है।

प्रकरण २

साहित्य सम्मेलन का इन्दौर अधिवेशन

सन् १९१८ मार्च महीने में साहित्य सम्मेलन का वार्षिक अधिवेशन इन्दौर में हुआ। यह दक्षिण के हिन्दी प्रचार के इतिहास में अत्यन्त महत्वपूर्ण घटना है। महात्मा गाँधी जी ने इस अधिवेशन की अध्यक्षता ग्रहण की थी। उनका अध्यक्ष-भाषण हिन्दी के सम्बन्ध में विशेष महत्व रखता है। अंग्रेज़ी और राष्ट्र-भाषा हिन्दी के विषय में उनकी उस समय की विचार-धारा का परिचय हमें उनके भाषण के नीचे लिखे उद्धरण से मिल सकता है।

अंग्रेजी का मोह—

"शिक्षित वर्ग जैसा कि माननीय पंडित जी (पं० मदनमोहन मालवीय जी) ने अपने पत्र में दिखाया है, अंग्रेज़ी के मोह में फँस गया है और अपनी राष्ट्रीय मातृ-भाषा से उसे असंतोष हो गया है। पहली माता से जो दूध मिलता है उसमें ज़हर और पानी मिला हुआ है और दूसरी माता से शुद्ध दूध मिलता है। बिना इस शुद्ध दूध के मिले, हमारी उन्नति होना असंभव है। पर जो अन्धा है, वह देख नहीं सकता और गुलाम नहीं जानता कि अपनी बेड़ियाँ किस तरह तोड़े। पचास वर्षों से हम अंग्रेज़ी के मोह में फँसे हैं, हमारी प्रजा अज्ञान में डूब रही है। सम्मेलन को इस ओर विशेष रूप से ध्यान देना चाहिए। हमें ऐसा उद्योग करना चाहिए कि एक वर्ष में राजकीय सभाओं में, काँग्रेस में, प्रान्तीय सभाओं में और अन्य सभा-समाज और सम्मेलनों में अंग्रेज़ी का एक भी शब्द सुनाई न पड़े। हम अंग्रेज़ी का व्यवहार बिलकुल त्याग दें। अंग्रेजी सर्वव्यापक भाषा है, पर यदि अंग्रेज सर्वव्यापक न रहेंगे तो अंग्रेज़ी भी सर्व-व्यापक न रहेगी। अब हमें अपनी मातृ-भाषा को और नष्ट करके उसका खून नहीं करना चाहिए। जैसे अंग्रेज़ अपनी मादरी ज़बान अंग्रेज़ी में ही बोलते और सर्वथा उसे ही व्यवहार में लाते हैं, वैसे ही मैं आपसे प्रार्थना करता हूँ कि आप हिन्दी को भारत की राष्ट्र-भाषा बनने का गौरव प्रदान करें[1]।"

यह धारणा गलत है कि गाँधी जी अंग्रेज़ी के शत्रु थे। वास्तव में वे अंग्रेज़ी के महत्व को मानते थे, उसके उच्च साहित्य के प्रति भी उनके हृदय में सद्भावना

---

(१) राष्ट्रभाषा हिन्दुस्तानी—पृष्ठ १०—नवजीवन प्रकाशन।

रही है। अंग्रेज़ी के प्रति द्वेष की भावना उनके हृदय को छू तक नहीं गयी थी। वे केवल राष्ट्रीय दृष्टिकोण से ही अंग्रेज़ी को देश की राष्ट्र-भाषा के लिए अनुपयुक्त बताते थे। अंग्रेज़ी की जड़-पूजा को भी वे वाँछनीय नहीं समझते थे। अंग्रेज़ी को भारत से एकदम निकाल देने का भी वे विचार नहीं करते थे। अंग्रेज़ी को उचित स्थान देने में उन्हें कोई आपत्ति नहीं थी। उस सम्बन्ध में उनके विचार यों प्रकट हुए हैं।

अंग्रेज़ी की जड़-पूजा वाँछनीय नहीं—

"कहना आवश्यक नहीं है कि मैं अंग्रेज़ी भाषा से द्वेष नहीं करता हूँ। अंग्रेज़ी साहित्य-भंडार से मैंने भी बहुत रत्नों का उपयोग किया है। अंग्रेज़ी भाषा की मार्फ़त हमको विज्ञान आदि का खूब ज्ञान लेना है। अंग्रेज़ी का ज्ञान भारतवासियों के लिए कितना आवश्यक है। लेकिन इस भाषा को उसका उचित स्थान देना एक बात है, उसकी जड़-पूजा करना दूसरी बात है[१]।"

उस ज़माने में अहिन्दी भाषा-भाषियों को हिन्दी सिखलाने के लिए योग्य शिक्षक मिलना कठिन था। उस दृष्टि से लिखी हुई पाठ्यपुस्तकें भी नहीं थीं। खास करके दक्षिणी जनता में हिन्दी का प्रचार करना उक्त कारणों से और भी कठिन मालूम हुआ। अतः उन्होंने राष्ट्र-भाषा हिन्दी के प्रचार की आवश्यकता को समझाते हुए प्रचार के लिए योग्य शिक्षक, आवश्यक पुस्तक आदि की ओर भी सम्मेलन के संचालकों का ध्यान आकृष्ट करते हुए यों कहा—

हिन्दी-शिक्षक की आवश्यकता—

"भाषा प्रचार के लिए हिन्दी-शिक्षक होना चाहिए। हिन्दी-बंगाली सीखनेवालों के लिये एक छोटी सी पुस्तक मैंने देखी है, वैसे ही मराठी में भी है। अन्य भाषा-भाषियों के लिए ऐसी किताबें देखने में नहीं आयी हैं। यह काम करना जैसा सरल है, वैसा ही आवश्यक है। मुझे उम्मीद है, सम्मेलन इस कार्य को शीघ्रता से अपने हाथ में लेगा।"

"सबसे कष्टदायी मामला द्राविड़ भाषाओं के लिए है। वहाँ तो कुछ प्रयत्न नहीं हुआ है। हिन्दी भाषा सिखानेवाले शिक्षकों को तैयार करना चाहिए। ऐसे शिक्षकों की बड़ी कमी है। ऐसे एक शिक्षक प्रयाग से आपके लोकप्रिय मंत्री भाई पुरुषोत्तम-दास जी टंडन के द्वारा मुझे मिले हैं[२]।"

---

(१) राष्ट्रभाषा हिन्दुस्तानी—पृष्ठ १३—नवजीवन प्रकाशन।

(२) राष्ट्र-भाषा हिन्दुस्तानी—पृष्ठ—१३।

दक्षिण में हिन्दी प्रचार की आयोजना—

गाँधी जी के भाषण के उपर्युक्त उद्धरणों से यह बात स्पष्ट होती है कि इन्दौर अधिवेशन के अवसर पर ही दक्षिण में हिन्दी प्रचार करने के लिए रीडरें अथवा स्वयं शिक्षक एवं योग्य हिन्दी प्रचारकों को तैयार करने का निर्णय हुआ था। उस भार को उठाने का साहित्य सम्मेलन से अनुरोध भी किया था। सम्मेलन में इस सम्बन्ध में एक प्रस्ताव स्वीकृत हुआ और तदनुसार दक्षिण में हिन्दी प्रचार करने की आयोजना बनी। गाँधी जी ने इस आयोजना को कार्यान्वित करने के लिए पर्याप्त धन की माँग भी उत्तर भारतीयों के सामने पेश की थी।

हिन्दी प्रचार के लिए उत्तर का सर्व प्रथम दान—

दक्षिण में हिन्दी प्रचार का आरम्भ शीघ्र ही करने के लिए इन्दौर नरेश तथा इन्दौर के धनी सेठ श्री हुकुमचन्द जी ने दस-दस हजार रुपयों की थैलियाँ गाँधी जी को भेंट की थीं। यह धन दक्षिण भारत में हिन्दी प्रचारार्थ उत्तर भारतीयों का दिया हुआ सर्व प्रथम दान है।

हिन्दी प्रचारक की माँग—

सम्मेलन के बाद गाँधी जी ने दक्षिण के कुछ प्रमुख नेताओं से लिखा-पढ़ी की। हिन्दीप्रचार के सम्बन्ध में अपने विचार व्यक्त करते हुए उन्होंने समाचार-पत्रों में लेख भी लिखे। गाँधी जी के उक्त विचारों को पढ़कर दक्षिण के कुछ उत्साही देश-प्रेमी युवकों का ध्यान हिन्दी की ओर आकृष्ट हुआ। उन्होंने हिन्दी पढ़ने की इच्छा प्रकट करते हुए गाँधी जी से प्रार्थना की कि हिन्दी पढ़ाने के लिए एक सुयोग्य अध्यापक को दक्षिण में भेजा जाय। इस माँग की पूर्ति के लिए गाँधी जी ने अपने सबसे छोटे पुत्र देवदास गाँधी जी को हिन्दी प्रचार करने के लिए दक्षिण भेजा। श्री देवदास उस समय केवल अट्ठारह वर्ष के थे।

मद्रास में हिन्दी प्रचार का श्रीगणेश—

गाँधी जी का आदेश पाकर श्री देवदास गाँधी सन् १९१८ में दक्षिण में हिन्दी प्रचारार्थ मद्रास पहुँचे। स्थानीय सज्जनों से मिलकर नगर में एक हिन्दी वर्ग खोलने का उन्होंने प्रयत्न किया। फलतः सन् १९१८ मई महीने में सर्व प्रथम हिन्दी वर्ग मद्रास के गोखले हॉल में खुला जिसका औपचारिक उद्घाटन सम्मेलन ब्राडवे, मद्रास के तत्कालीन 'होमरूल लीग' के कार्यालय में हुआ था। डा. सी. पी. रामस्वामी अय्यर जी ने इस सम्मेलन का अध्यक्षपद ग्रहण किया। वर्ग का उद्घाटन श्रीमती एनीबेसेंट जी ने किया। उन्होंने अपने उद्घाटन भाषण में देश के लिए एक सामान्य भाषा की आवश्यकता बताते हुए हिन्दी पढ़ने पर जोर दिया। गाँधी जी

प्रथम हिन्दी वर्ग—

बापूजी ने अपने सबसे छोटे पुत्र देवदास गाँधी को हिन्दी वर्ग चलाने के लिए भेजा और सन् १९१८ के मई महीने के आरंभ में उक्त सेवा-समाज के अध्यक्ष श्री. सी. पी. रामस्वामी अय्यर की अध्यक्षता में श्रीमती बेसेंट के हाथों हिन्दी वर्ग का उद्घाटन हुआ।

सर्वप्रथम हिन्दी शिक्षार्थी—

"मुझे सन् १९१५ से ही बापूजी के सम्पर्क में आने का सौभाग्य मिला था। साबरमती-आश्रम की स्थापना के पहले भी कुछ समय उनके साथ रहने का सुअवसर मुझे मिला था। उनसे अनुमति लेकर मैं स्वदेशी का प्रचार करने मद्रास चला आया था। इन्दौर के प्रस्ताव और बापूजी की योजना पढ़कर मैंने बापूजी को लिखा कि इस कार्य में मैं सम्मिलित होऊँगा। उन्होंने मुझे स्वीकृति दे दी और लिखा कि इसी कार्य के लिए अपने पुत्र देवदास गाँधी को भेज रहे हैं। हिन्दी का पहला वर्ग देवदास ने चलाया। देवदास से सलाह-मशविरा करके मैंने कुछ नवयुवकों को चुना। मैं सपत्नीक था। स्वदेशी-आन्दोलन में मेरे साथ काम करनेवाले मेरे मित्र वन्दे-मातरम् सुब्रह्मण्यम् सपत्नीक प्रयाग चलने को तैयार हुए। मैंने शिवराम शर्मा † नामक नवयुवक को भी चुन लिया। हम पाँचों मई महीने में प्रयाग पहुँचे। उस समय टंडनजी हिन्दी साहित्य सम्मेलन के प्रधान मंत्री थे और प्रचार सम्बन्धी कार्य भी सँभालते थे। कुछ समय बाद पं० रामनरेश त्रिपाठी प्रधानमंत्री बने। प्रयाग में टंडनजी ने हमलोगों को ठहरने का प्रबन्ध कर दिया था। हमारे साथ रामनरेश त्रिपाठी के रहने का भी प्रबन्ध हुआ। हमें पढ़ाने के लिए गणेशदीन त्रिपाठी नामक अध्यापक नियुक्त हुए। हरिप्रसाद द्विवेदी (वियोगी हरि) भी पढ़ाते थे।

× × ×

हिन्दी-स्वबोधिनी—

सन् १९२० में हिन्दी साहित्य सम्मेलन का अधिवेशन पटना में हुआ। उसमें मद्रास के हम कुछ प्रचारक सम्मिलित हुए। वहाँ टंडनजी, राजेन्द्र बाबू और अन्य प्रमुख कार्यकर्ताओं के साथ विचार-विनिमय के बाद यह निश्चय हुआ कि मद्रासियों के योग्य कुछ अच्छी पुस्तकें निकाली जायँ। इस उद्देश्य से राजमहेन्द्रम् का काम श्री-हृषीकेश शर्माजी को सौंपकर मैंने शिवराम शर्मा को मद्रास बुला लिया। वहाँ उनकी सहायता लेकर मैंने 'हिन्दी स्वबोधिनी' अँग्रेजी और तमिल में तैयार की। बापूजी को

---

† ये ही हरिहर शर्मा जी के सर्वप्रथम सहयोगी कार्यकर्ता हैं जिनका उल्लेख इसमें कई प्रसंगों पर हुआ है।

की इस आयोजना का अध्यक्ष तथा उद्घाटिका दोनों ने बड़े जोरों का समर्थन भी किया।

श्रीमती बेसेंट अपने 'होमरूल लीग' के मुख्य-पत्र अंग्रेजी दैनिक 'न्यू इन्डिया' में अंग्रेजी अनुवाद के साथ हिन्दी लेख प्रकाशित करती थी। वे हिन्दी का राष्ट्र-भाषा होना अत्यंत आवश्यक और अंग्रेजी का इस देश की राष्ट्र-भाषा बन जाना देश के लिए खतरनाक समझती थीं। उनका कहना था कि जिस दिन अंग्रेज़ी हिन्दुस्तान की राष्ट्र-भाषा हो जायगी उस दिन समझ लेना चाहिए कि हमारी बरबादी शुरू हुई। उनकी राय में एक देश की मुट्ठी भर लोगों का दूसरे देश के करोड़ों लोगों पर हुकूमत करना ही देश की भारी मुसीबत थी, तिस पर भी उस देश की भाषा को मिटाकर विदेशी भाषा को वहाँ की जनता पर जबरदस्ती थोप देना अत्यन्त विनाशकारी कार्य है।

हिन्दी आन्दोलन के आरंभ की झाँकी—

'राजर्षि अभिनन्दन ग्रन्थ' में दक्षिण के हिन्दीप्रचार आन्दोलन के प्रारंभ की मुख्य घटनाओं का उल्लेख करते हुए हिन्दी-प्रचार आन्दोलन के आदि दाक्षिणात्य प्रवर्तक, हिन्दी प्रचार सभा के संस्थापक पं० हरिहर शर्मा जी ने एक लेख लिखा है। उक्त लेख प्रामाणिक रूप में प्रारंभ की बातों का हमें विशद परिचय देता है। उसका नीचे उद्धृत अंश विशेष ध्यान देने योग्य है।

इन्दौर-प्रस्ताव—

"इन्दौर अधिवेशन (१९१८) में दक्षिण भारत में हिन्दी-प्रचार करने के लिए आयोजना बनी। एक महत्वपूर्ण प्रस्ताव स्वीकृत हुआ कि प्रतिवर्ष छः दक्षिण भारतीय नवयुवक हिन्दी सीखने प्रयाग भेजे जायँ और हिन्दी भाषा-भाषी छः युवकों को दक्षिणी भाषा सीखने और साथ-साथ वहाँ हिन्दी का प्रचार करने के लिए दक्षिण भारत में भेजा जाय।

× × ×

बीस हज़ार का दान—

धन की आवश्यकता पड़ी। गाँधी जी के माँगने पर इन्दौर नगर के धन-कुबेर सेठ सर हुकुमचन्द ने तथा तत्कालीन इन्दौर-नरेश यशवंतराव होलकर ने दस-दस हजार रुपये की सहायता पहुँचायी। यह रकम बापूजी ने हिन्दी साहित्य सम्मेलन को सौंपी। इसके बाद उन्होंने दक्षिण भारत के समाचार-पत्रों में सूचना निकाली कि यदि वहाँ हिन्दी वर्गों का प्रबन्ध किया जा सके तो हिन्दी सिखाने के लिए अध्यापक भेजे जायँ। मद्रास शहर में कुछ नवयुवक भारत-सेवासंघ (इंडियन सर्विस लीग) नामक समाज-सेवा करनेवाली संस्था चला रहे थे। उन लोगों ने बापूजी को पत्र लिखा।

प्रथम हिन्दी वर्ग—

बापूजी ने अपने सबसे छोटे पुत्र देवदास गाँधी को हिन्दी वर्ग चलाने के लिए भेजा और सन् १९१८ के मई महीने के आरंभ में उक्त सेवा-समाज के अध्यक्ष श्री. सी. पी. रामस्वामी अय्यर की अध्यक्षता में श्रीमती बेसेंट के हाथों हिन्दी वर्ग का उद्घाटन हुआ।

सर्वप्रथम हिन्दी शिक्षार्थी—

"मुझे सन् १९१५ से ही बापूजी के सम्पर्क में आने का सौभाग्य मिला था। साबरमती-आश्रम की स्थापना के पहले भी कुछ समय उनके साथ रहने का सुअवसर मुझे मिला था। उनसे अनुमति लेकर मैं स्वदेशी का प्रचार करने मद्रास चला आया था। इन्दौर के प्रस्ताव और बापूजी की योजना पढ़कर मैंने बापूजी को लिखा कि इस कार्य में मैं सम्मिलित होऊँगा। उन्होंने मुझे स्वीकृति दे दी और लिखा कि इसी कार्य के लिए अपने पुत्र देवदास गाँधी को भेज रहे हैं। हिन्दी का पहला वर्ग देवदास ने चलाया। देवदास से सलाह-मशविरा करके मैंने कुछ नवयुवकों को चुना। मैं सपत्नीक था। स्वदेशी-आन्दोलन में मेरे साथ काम करनेवाले मेरे मित्र वन्दे-मातरम् सुब्रह्मण्यम् सपत्नीक प्रयाग चलने को तैयार हुए। मैंने शिवराम शर्मा † नामक नवयुवक को भी चुन लिया। हम पाँचों मई महीने में प्रयाग पहुँचे। उस समय टंडनजी हिन्दी साहित्य सम्मेलन के प्रधान मंत्री थे और प्रचार सम्बन्धी कार्य भी सँभालते थे। कुछ समय बाद पं० रामनरेश त्रिपाठी प्रधानमंत्री बने। प्रयाग में टंडनजी ने हमलोगों को ठहरने का प्रबन्ध कर दिया था। हमारे साथ रामनरेश त्रिपाठी के रहने का भी प्रबन्ध हुआ। हमें पढ़ाने के लिए गणेशदीन त्रिपाठी नामक अध्यापक नियुक्त हुए। हरिप्रसाद द्विवेदी (वियोगी हरि) भी पढ़ाते थे।

× × ×

हिन्दी-स्वबोधिनी—

सन् १९२० में हिन्दी साहित्य सम्मेलन का अधिवेशन पटना में हुआ। उसमें मद्रास के हम कुछ प्रचारक सम्मिलित हुए। वहाँ टंडनजी, राजेन्द्र बाबू और अन्य प्रमुख कार्यकर्ताओं के साथ विचार-विनिमय के बाद यह निश्चय हुआ कि मद्रासियों के योग्य कुछ अच्छी पुस्तकें निकाली जायँ। इस उद्देश्य से राजमहेन्द्रम् का काम श्री-हृषीकेश शर्माजी को सौंपकर मैंने शिवराम शर्मा को मद्रास बुला लिया। वहाँ उनकी सहायता लेकर मैंने 'हिन्दी स्वबोधिनी' अँग्रेजी और तमिल में तैयार की। बापूजी को

---

† ये ही हरिहर शर्मा जी के सर्वप्रथम सहयोगी कार्यकर्ता हैं जिनका उल्लेख इसमें कई प्रसंगों पर हुआ है।

यह पुस्तक बहुत पसन्द आयी। उन्होंने उसकी प्रस्तावना लिखकर हमको आशीर्वाद दिया। यह हिन्दी पुस्तक हिन्दी साहित्य सम्मेलन-प्रचार कार्यालय की ओर से प्रकाशित हुई। इसीके आधार पर हृषीकेश शर्मा जी ने तेलुगु में हिन्दी-स्वबोधिनी तैयार की। बाद को इसकी मलयालम् और कन्नड़ प्रतियाँ तैयार हुईं। इनका परिवर्तित संस्करण आजकल चल रहा है।

'हिन्दी का हीर'—

'हिन्दी का हीर' नामक पुस्तक श्री प्रतापनारायण बाजपेयी ने लिखी। यह अत्यन्त लोकप्रिय बनी। इसमें अंग्रेज़ी में हिन्दी के व्याकरण नियम बताये गये थे। इसके बाद तीन रीडरें तैयार की गयीं।

× × ×

हिन्दी-प्रेस—

श्री जमनालालजी की कृपा से हमलोग अपना छापाखाना स्थापित करने में सफल हुए। सन् १९२३ में छोटे पैमाने पर प्रेस स्थापित हुआ।

प्रथम हिन्दी-प्रचारक विद्यालय—

गोदावरी नदी के किनारे राजमहेन्द्रवरम् के पास धवलेश्वर में एक विद्यालय खोला गया। जिसके आचार्य हृषीकेश शर्माजी थे। दूसरा विद्यालय कावेरी नदी के किनारे ईरोड़ नगर में स्व० पं० मोतीलाल नेहरू के हाथों खोला गया। पहले पं० अवधनन्दन इसे सँभालते थे। इनके बाद कुछ समय तक कृष्णस्वामी और फिर शिवराम शर्मा सँभालते थे। उस विद्यालय के लिए सब तरह की सुविधाएँ श्री. ई. वी. रामस्वामि नायिक्कर ने कर दी थी।

× × ×

प्रारम्भ के सहायक—

श्री पुरुषोत्तमदास टंडन, श्री जमनालाल बजाज, श्री काका कालेलकर, पं० रामनरेश त्रिपाठी, श्री. सी. पी. रामस्वामी अय्यर, श्री रंगस्वामी अय्यंगार, श्री पट्टाभि-सीतारामय्या, श्री. के. भाष्यम् , श्री रामदास पन्तलु, श्री संजीवकामत, श्री वैद्यनाथ अय्यर, श्री. डा. राजन् आदि प्रारंभ के प्रबल सहायकों में प्रमुख हैं।

× × ×

आर्थिक सहायता—

होलकर नरेश, सर सेठ हुकुमचन्द, मारवाड़ी अग्रवाल महासभा। तथा प्रेस के लिए बंबई की श्रीमती सुव्रताबाई, रामनारायण रुइया। पुस्तक प्रकाशन के लिए सेठ घनश्यामदास बिड़ला। हिन्दी यात्री-दल के लिए प्रभाशंकर पट्टाणि। विद्यालय भवन के

लिए श्री कर्नल पंडाले और डा. रंगाचारी, रंगस्वामी। मंडप के लिए 'रंगस्वामी अय्यंगार निधि' आदि से विशेष रूप में आर्थिक सहायता मिली है।

× × ×

प्रारंभिक वर्ग के विद्यार्थी—

मद्रास हाईकोर्ट के न्यायाधीश श्री सदाशिव अय्यर, सुप्रसिद्ध वकील श्री वेंकटराम शास्त्री, श्री के. भाष्यम् अय्यंगार, श्री एन. सुन्दर अय्यर, श्री रंगरत्न आदि हिन्दी वर्ग में भर्ती होकर अध्ययन करते थे। श्रीमती अंबु जम्माल, श्री दुर्गाबाई, श्रीमती इन्दिरा रामदुरै, श्रीमती रुक्मिणी लक्ष्मीपति आदि महिलाओं का योगदान हिन्दी प्रचार कार्य की वृद्धि में सहायक रहा है।

× × ×

समाचार-पत्रों की सहायता—

मद्रास के सुप्रसिद्ध 'हिन्दू' और एनिबेसेंट की 'न्यू इंडिया' ने प्रचार में काफी सहायता पहुँचायी। 'आनन्द विकटन' तथा अन्य तमिल पत्रों ने भी सहायता दी है।[1]"

दक्षिण के सर्व प्रथम हिन्दी-प्रचारक

स्व. देवदास गाँधी जी दक्षिण के आदि हिन्दी प्रवर्तक के नाम से स्मरणीय हो चुके हैं। मद्रास जैसे नगर में जहाँ का वातावरण अंग्रेजी से अत्यंत प्रभावित था, वहाँ के अंग्रेजी के अनन्य समर्थकों और आराधकों को राष्ट्र-भाषा हिन्दी पढ़ने के लिए प्रेरित करना श्री देवदास के लिए बड़ा ही दुष्कर कार्य था। लेकिन लगन और निरंतर प्रयत्न के फलस्वरूप शीघ्र ही वे इस में सफलमनोरथ हुए। धीरे-धीरे जनता हिन्दी की ओर आकृष्ट होने लगी।

थोड़े ही दिनों में मद्रास शहर में हिन्दी पढ़नेवालों की संख्या बढ़ गयी।

स्वामी सत्यदेव जी—

जब मद्रास का कार्य भार बढ़ा तब श्री. देवदास जी के लिए अकेले इस भार को संभालना कठिन हो गया। इसलिए साहित्य सम्मेलन ने स्वामी सत्यदेव जी को देवदास जी की मदद के लिए भेजा। स्वामी सत्यदेव जी सन् १९२८ के अगस्त महीने में मद्रास पहुँचे। उन्हों ने 'दक्षिण भारत की अतीत की स्मृतियाँ' शीर्षक लेख में अपने मद्रास आने के संबंध में यों लिखा है :—"यह सन् १९१८ की बात है। मोतिहारी (चंपारन) में मेरे ऊपर बिहार सरकार ने १४४ धारा का बम-गोला फेंक

---

१. आधार—'दक्षिण में हिन्दी प्रचार'—पं० हरिहर शर्मा, राजर्षि अभिनन्दन ग्रन्थ पृष्ठ ६५८।

दिया था और मैंने उसे स्वीकार न कर हुकुमनामे पर हस्ताक्षर करने से इनकार कर दिया। मेरी इच्छा सरकार के अन्याय के विरुद्ध भिड़ने की थी। परन्तु महात्मा गांधी जी का तार नड़ियाद से आया कि धारा को मत तोड़ो; इसे हटवा दिया जायगा। गाँधी रूपी सूर्य का उस समय उदय ही हुआ था और मैं उस की रश्मियों का स्नेह-भाजन बन चुका था। मैंने कहा मान लिया और महात्मा जी ने बिहार सरकार से पत्र-व्यवहार कर उस हुक्म को बदल कर मुझे अपने पास बुला लिया। मैं नड़ियाद पहुँचा।"

"ये बरसात के दिन थे। नड़ियाद में कुछ दिन रह कर मैं महात्मा जी की आज्ञा के अनुसार हिन्दी प्रचारार्थ मद्रास की ओर रवाना हुआ। चिरंजीवी देवदास गाँधी पहले ही झंडा ले कर वहाँ पहुँच चुके थे। जब मैं मद्रास पहुँचा तो उन्होंने बड़े प्रेम से मेरा स्वागत किया और हिन्दी माता की सेवा का वह पुण्य कार्य प्रारंभ हुआ।"

"कैसी थी वह शुभ घड़ी! किसे मालूम था कि उस पुनीत घड़ी में रोपा हुआ बीज लहलहाता वृक्ष हो जायगा जिसके नीचे हज़ारों मद्रासी विद्यार्थी राष्ट्र-भाषा की कठिन समस्या को हल करेंगे ?

कई स्वार्थ त्यागी नौजवानों ने इस यज्ञ में आहुति देने का संकल्प किया। उनकी सहायता से नगर में हिन्दी वर्ग स्थापित कर दिये और प्रांत के कई स्थानों में केन्द्र भी बनाये।

एक वर्ष तक मैं मद्रास में रहा। इतने थोड़े समय में हिन्दी-प्रचार कार्य ने बड़ा अच्छा स्वरूप ले लिया। हमारे वर्ग सफलतापूर्वक चलने लगे, विद्यार्थियों की संख्या दिनोंदिन बढ़ने लगी और नगर के गण्यमान्य सज्जनों ने हमारे साथ पूर्ण सहयोग दिया। मैलापुर के श्री वेंकिटराम जी शास्त्री, श्री भाष्यम्, श्री शिवस्वामी अय्यर आदि महानु-भावों ने हमें हर प्रकार से उत्साहित किया। श्री राजगोपालाचार्य भी हमारी सहा-यतार्थ दौड़-धूप करने लगे। उनके सेलम नगर में भी हिन्दी का केन्द्र बना। त्रिचिनापल्ली में भी हमारा केन्द्र स्थापित हुआ। इस प्रकार प्रभु की कृपा से माता हिन्दी के पुजारियों की संख्या की वृद्धि होने लगी।

वह एक वर्ष कैसे आनंद से बीता ? श्री देवदास गाँधी जी के साथ काम करने के वे दिन मुझे कभी नहीं भूल सकते। उनकी मधुर-स्मृतियाँ मेरे हृदय-पट पर सदा ताज़ी बनी रहेंगी। हर्ष है कि पं० हरिहर शर्मा, पं० हृषीकेश शर्मा आदि कार्य कर्त्ताओं के अथक परिश्रम और सतत उद्योग से आज सारे मद्रास प्रांत में हिन्दी परीक्षा केन्द्र स्थापित हो चुके हैं।"[1]

---

१. हिन्दी प्रचारक दशाब्दि–अंक–एप्रिल १९३२
"दक्षिण भारत की अतीत स्मृतियाँ"—स्वामी सत्यदेव